॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

श्री अवधूत गीता

श्री अवधूत गीता

श्री प्रभु के चरणकमलों में समर्पित:

श्री मनीष त्यागी
संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

॥ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

॥ अवधूत गीता ॥

विषय सूची

अथ प्रथमोऽध्याय : प्रथम अध्याय 4

अथ द्वितीयोऽध्यायः दूसरा अध्याय 25

अथ तृतीयोऽध्यायः तीसरा अध्याय 37

अथ चतुर्थोऽध्यायः चौथा अध्याय 55

अथ पञ्चमोध्यायः पाँचवाँ अध्याय 63

अथ षष्ठमोऽध्यायः छठा अध्याय 73

अथ सप्तमोऽध्यायः सातवाँ अध्याय 81

अथ अष्टमोऽध्यायः आठवाँ अध्याय 86

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

॥अवधूत गीता ॥

अथ प्रथमोऽध्याय : प्रथम अध्याय

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना ।
महद्भयपरित्राणाद्विप्राणामुपजायते ॥१॥

महान् भय से रक्षा करने वाली अद्वैत की वासना मनुष्यों में, विप्रों में ईश्वर के अनुग्रह (कृपा) से ही उत्पन्न होती है॥२॥

येनेदं पूरितं सर्वमात्मनैवात्मनात्मनि ।
निराकारं कथं वन्दे ह्यभिन्नं शिवमव्ययम् ॥२॥

यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत जिस आत्मा द्वारा आत्मा से आत्मा में ही पूर्ण हो रहा है उस निराकार (ब्रह्म) का मैं किस प्रकार वन्दन करूँ क्योंकि वह (जीव से) अभिन्न है, कल्याण स्वरूप है, (तथा) अव्यय है॥३॥

पञ्चभूतात्मकं विश्वं मरीचिजलसन्निभम् ।
कस्याप्यहो नमस्कुर्यामहमेको निरञ्जनः ॥३॥

यह विश्व पाँच भूतों का समुदाय हैं जो मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या भी है। मैं एक ही निरन्जन (निर्दोष) हूँ। फिर मैं किसको नमस्कार करूँ॥४॥

आत्मैव केवलं सर्वं भेदाभेदो न विद्यते ।
अस्ति नास्ति कथं ब्रूयां विस्मयः प्रतिभाति मे ॥४॥

यह आत्मा ही सर्वरूप है तथा केवल है जिसमें भेद और अभेद विद्यमान नहीं है- इसे मैं 'है' अथवा 'नहीं है' किस प्रकार कहूँ। मुझे यह आश्चर्य रूप प्रतीत होता है॥५॥

वेदान्तसारसर्वस्वं ज्ञानं विज्ञानमेव च ।
अहमात्मा निराकारः सर्वव्यापी स्वभावतः ॥५॥

वेदान्त का सार ही हमारा सर्वस्व है और वही ज्ञान एवं विज्ञान है। मैं आत्मा हूँ, निराकार हूँ तथा स्वभाव से ही सर्वव्यापी हूँ॥६॥

यो वै सर्वात्मको देवो निष्कलो गगनोपमः ।
स्वभावनिर्मलः शुद्धः स एवायं न संशयः ॥६॥

जो सर्वस्वरूप देव (ब्रह्म) है वह अवयव रहित,आकाश के सदृश, स्वभाव से निर्मल एवं शुद्ध है। वही मैं हूँ, इसमें संशय नहीं है॥७॥

अहमेवाव्ययोऽनन्तः शुद्धविज्ञानविग्रहः ।
सुखं दुःखं न जानामि कथं कस्यापि वर्तते ॥७॥

मैं निश्चय ही नाश रहित, अनन्त एवं शुद्ध विज्ञान स्वरूप हूँ। मैं सुख-दु:ख को नहीं जानता हूँ कि ये किसको व किस प्रकार होते हैं॥८॥

न मानसं कर्म शुभाशुभं मे न कायिकं कर्म शुभाशुभं मे ।
न वाचिकं कर्म शुभाशुभं मे ज्ञानामृतं शुद्धमतीन्द्रियोऽहम् ॥ ८॥

मन के द्वारा किये गये शुभ व अशुभ कर्म मेरे नहीं हैं, न शरीर द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म मेरे हैं, वाणी द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म भी मेरे नहीं हैं। मैं शुद्ध, ज्ञानामृत एवं इन्द्रियों का अविषय हूँ॥९॥

मनो वै गगनाकारं मनो वै सर्वतोमुखम् ।
मनोऽतीतं मनः सर्वं न मनः परमार्थतः ॥ ९॥

निश्चय ही यह मन गगन के आकार वाला है तथा इसके सभी ओर मुख हैं, मन से पार कुछ भी नहीं है, मन ही सब कुछ है किन्तु यह मन भी परमार्थ से सत्य नहीं है॥१०॥

अहमेकमिदं सर्वं व्योमातीतं निरन्तरम् ।
पश्यामि कथमात्मानं प्रत्यक्षं वा तिरोहितम् ॥ १०॥

मैं आत्मा को प्रत्यक्ष अथवा तिरोहित किस प्रकार देखूँ क्योंकि मैं आत्मा स्वरूप होने के कारण एक तथा सर्वरूप हूँ तथा आकाश से भी परे निरन्तर हूँ ॥११॥

त्वमेवमेकं हि कथं न बुध्यसे
समं हि सर्वेषु विमृष्टमव्ययम् ।

सदोदितोऽसि त्वमखण्डितः प्रभो
दिवा च नक्तं च कथं हि मन्यसे ॥ ११॥

'हे प्रभो ! तू क्यों नहीं जानता कि तू एक ही है, सभी में समान है, नाश रहित है' ऐसा विचार किया गया है। तू सदा ही प्रकाशमान है तथा अखण्ड है (भेद रहित है) फिर तू दिन और रात्रि को किस प्रकार मानता है।॥१२॥

आत्मानं सततं विद्धि सर्वत्रैकं निरन्तरम् ।
अहं ध्याता परं ध्येयमखण्डं खण्ड्यते कथम् ॥ १२॥

आत्मा को तुम सदा सर्वत्र, एक एवं अविचल जानो। फिर 'मैं ध्याता (ध्यान करने वाला) हूँ तथा आत्मा ध्येय' (जिसका ध्यान किया जाता है) का भेद किस प्रकार करते हो। जो अखण्ड है उसका खण्डन कैसे करते हो।॥१३॥

न जातो न मृतोऽसि त्वं न ते देहः कदाचन ।
सर्वं ब्रह्मेति विख्यातं ब्रवीति बहुधा श्रुतिः ॥ १३॥

न तो तेरा कभी जन्म हुआ है न कभी मरता ही है, न कभी तेरा शरीर ही है। यह सब ब्रह्म ही है ऐसा प्रसिद्ध है तथा अनेक श्रुतियाँ ऐसा ही कहती हैं॥१४॥

स बाह्याभ्यन्तरोऽसि त्वं शिवः सर्वत्र सर्वदा ।
इतस्ततः कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाचवत् ॥ १४॥

जो आत्मा (ब्रह्म) बाहर और भीतर सर्वत्र एवं सदा से ही विद्यमान है तथा कल्याण रूप है, वह तू ही है। फिर तू भ्रान्त होकर इधर-उधर पिशाच की तरह क्यों दौड़ता फिरता है॥१५॥

संयोगश्च वियोगश्च वर्तते न च ते न मे ।
न त्वं नाहं जगन्नेदं सर्वमात्मैव केवलम् ॥ १५॥

तेरे मैं और मेरे मैं कोई संयोग और विभाग नहीं है। न तू है, न मैं हूँ और न यह जगत ही है बल्कि यह सब केवल आत्मा ही है॥१६॥

शब्दादिपञ्चकस्यास्य नैवासि त्वं न ते पुनः ।
त्वमेव परमं तत्त्वमतः किं परितप्यसे ॥ १६॥

फिर ये शब्दादि पंचक (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) न तो तुम हो न ये तुम्हारे हैं। तुम एक ही परम तत्व (ब्रह्म) हो इसलिए क्यों संतप्त होते हो॥१७॥

जन्म मृत्युर्न ते चित्तं बन्धमोक्षौ शुभाशुभौ ।
कथं रोदिषि रे वत्स नामरूपं न ते न मे ॥ १७॥

जन्म और मृत्यु, बन्धन और मोक्ष तथा शुभ-अशुभ सब मन के धर्म हैं, तेरे नहीं हैं, ये नाम और रूप भी न तेरे हैं न मेरे। फिर हे वत्स! तू क्यों रूदन करता है॥१८॥

अहो चित्त कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाचवत् ।

अभिन्नं पश्य चात्मानं रागत्यागात्सुखी भव ॥ १८॥

खेद है कि यह चित्त किस प्रकार भ्रान्त होकर पिशाच की भाँति दौड़ता-फिरता है। तू अपनी आत्मा को अभिन्न देख तथा राग का त्याग करके सुखी हो जा॥१९॥

त्वमेव तत्त्वं हि विकारवर्जितं निष्कम्पमेकं हि विमोक्षविग्रहम् ।
न ते च रागो ह्यथवा विरागः कथं हि सन्तप्यसि कामकामतः ॥ १९॥

तू निश्चय ही आत्म तत्व है जो विकार रहित है, निष्काम है, एक ही है तथा मोक्ष स्वरूप है। ये राग और विराग भी तेरे नहीं हैं फिर कामों की कामना से क्यों संतप्त है॥२०॥

वदन्ति श्रुतयः सर्वाः निर्गुणं शुद्धमव्ययम् ।
अशरीरं समं तत्त्वं तन्मां विद्धि न संशयः ॥ २०॥

सम्पूर्ण श्रुतियाँ आत्म तत्व को निर्गुण, शुद्ध, नाश रहित, शरीर से रहित, समरूप ही कहती हैं वही तुम मुझे जानो इसमें संशय नहीं है॥२१॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारं निरन्तरम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः ॥ २१॥

साकार को मिथ्या जाने, निराकार को निरन्तर (नित्य) जाने। इस तत्व के उपदेश से संसार में पुन: उत्पत्ति नहीं होती॥२२॥

एकमेव समं तत्त्वं वदन्ति हि विपश्चितः ।
रागत्यागात्पुनश्चित्तमेकानेकं न विद्यते ॥ २२॥

विद्वान् जन कहते हैं कि एक ही तत्व समान रूप से व्याप्त है। राग के त्याग देने से यह चित्त फिर एक और अनेक को नहीं जानता॥२३॥

अनात्मरूपं च कथं समाधिरात्मस्वरूपं च कथं समाधिः ।
अस्तीति नास्तीति कथं समाधिर्मोक्षस्वरूपं यदि सर्वमेकम् ॥ २३॥

अनात्म रूप को समाधि कैसे हो सकती है, तथा आत्म स्वरूप को समाधि कैसे हो सकती है। इसी प्रकार 'है' और 'नहीं है' को भी समाधि कैसे हो सकती है और जो मोक्ष स्वरूप एक ही ब्रह्म है तो भी समाधि कैसे हो सकती है॥२४॥

विशुद्धोऽसि समं तत्त्वं विदेहस्त्वमजोऽव्ययः ।
जानामीह न जानामीत्यात्मानं मन्यसे कथम् ॥ २४॥

तू (आत्मा स्वरूप होने से) विशुद्ध, समरस, देह रहित, जन्म से रहित तथा नाश से रहित है। फिर तू यह कैसे मानता है कि मैं आत्मा को जानता हूँ मैं आत्मा को नहीं जानता॥२५॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येन स्वात्मा हि प्रतिपादितः ।
नेति नेति श्रुतिर्ब्रूयादनृतं पाञ्चभौतिकम् ॥२५॥

और 'तत्वमसि' (यह तू ही है) आदि वाक्यों से अपने आत्मा का ही प्रतिपादन किया गया है और श्रुति 'नेति नेति' कहती है। यह पंचभौतिक मिथ्या है॥२६॥

आत्मन्येवात्मना सर्वं त्वया पूर्णं निरन्तरम् ।
ध्याता ध्यानं न ते चित्तं निर्लज्जं ध्यायते कथम् ॥ २६॥

तेरी आत्मा से ही सभी आत्म रूप से पूर्ण एवं निरन्तर है। इसलिए ध्याता और ध्यान तुम्हारे नहीं हैं फिर यह निर्लज्ज मन कैसे ध्यान करता है॥२७॥

शिवं न जानामि कथं वदामि
शिवं न जानामि कथं भजामि ।
अहं शिवश्चेत्परमार्थतत्त्वं
समस्वरूपं गगनोपमं च ॥ २७॥

मैं शिव को नहीं जानता तो कैसे उसका वर्णन करूँ मैं शिव को नहीं जानता तो कैसे उसे भजूँ, मैं ही शिव स्वरूप एवं परमार्थ तत्व हूँ जो गगन के तुल्य और सम स्वरूप है॥२८॥

नाहं तत्त्वं समं तत्त्वं कल्पनाहेतुवर्जितम् ।
ग्राह्यग्राहकनिर्मुक्तं स्वसंवेद्यं कथं भवेत् ॥ २८॥

न मैं तत्व हूँ न किसी के समान तत्व हूँ, कल्पना तथा उसके हेतु से भी रहित हूँ, ग्राह्य तथा ग्राहक के व्यवहार से भी रहित हूँ, स्वयंवेद्य भी कैसे होवे॥२९॥

अनन्तरूपं न हि वस्तु किंचित्तत्त्वस्वरूपं न हि वस्तु किंचित् ।
आत्मैकरूपं परमार्थतत्त्वं न हिंसको वापि न चाप्यहिंसा ॥ २९॥

यह आत्मा (ब्रह्म) अनन्त रूप है ऐसी अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह ब्रह्म ही तत्व स्वरूप है, ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं है। यह आत्मा एक रूप ही है तथा परमार्थ तत्व है इसलिए न तो कोई हिंसक है न अहिंसा ही है॥३०॥

विशुद्धोऽसि समं तत्त्वं विदेहमजमव्ययम् ।
विभ्रमं कथमात्मार्थे विभ्रान्तोऽहं कथं पुनः ॥ ३०॥

तुम विशुद्ध हो, देह रहित, जन्म रहित, अव्यय तथा समरस तत्व हो। आत्मा के विषय में तुम्हे भ्रांति क्यों है ? तुम कैसे कह सकते हो कि मैं भ्रान्ति युक्त हूँ ।

घटे भिन्ने घटाकाशं सुलीनं भेदवर्जितम् ।
शिवेन मनसा शुद्धो न भेदः प्रतिभाति मे ॥ ३१॥

घट के नाश होने पर घटाकाश महाकाश में लीन होकर भेद रहित हो जाता है (इसी प्रकार) शुद्ध मन से शुद्ध हो प्रतीत होता है। मुझे आत्मा का भेद प्रतीत नहीं होता है॥३१॥

न घटो न घटाकाशो न जीवो जीवविग्रहः ।
केवलं ब्रह्म संविद्धि वेद्यवेदकवर्जितम् ॥ ३२॥

न घट है, न घटाकाश है, न जीव हैं न उसका कोई विग्रह है। केवल ब्रह्म को ही सम्यक् जान जो ज्ञान तथा ज्ञाता से रहित है॥३२॥

सर्वत्र सर्वदा सर्वमात्मानं सततं ध्रुवम् ।
सर्वं शून्यमशून्यं च तन्मां विद्धि न संशयः ॥ ३३॥

तू आत्मा को सर्वत्र, सदा, सर्वरूप (सब कुछ), सतत एवं नित्य जान तथा इस समस्त जगत को शून्य जान और आत्मा को ही अशून्य जान। वह आत्मा मुझे ही जान इसमें संशय नहीं है॥३३॥

वेदा न लोका न सुरा न यज्ञा वर्णाश्रमो नैव कुलं न जातिः ।
न धूममार्गो न च दीप्तिमार्गो ब्रह्मैकरूपं परमार्थतत्त्वम् ॥ ३४॥

वेद भी नहीं हैं, लोक भी नहीं है, देवता भी नहीं है, यज्ञ भी नहीं हैं, वर्ण और आश्रम भी नहीं है, न कुल है, न जाति हैं, धूतमार्ग भी नहीं है और न अग्निमार्ग ही है। केवल एकरूप ब्रह्म ही परमार्थ तत्व है॥३४॥

व्याप्यव्यापकनिर्मुक्तः त्वमेकः सफलं यदि ।
प्रत्यक्षं चापरोक्षं च ह्यात्मानं मन्यसे कथम् ॥ ३५॥

यदि तू एक ही, फल के सहित है और व्याप्त-व्यापक भाव से रहित है तू प्रत्यक्ष और अपरोक्ष आत्मा को कैसे मानता है॥३५॥

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥ ३६॥

कुछ अद्वैत की इच्छा करते हैं और कुछ द्वैत की इच्छा करते हैं किन्तु वे समतत्व को नहीं जानते जो द्वैत और अद्वैत से रहित है॥३६॥

श्वेतादिवर्णरहितं शब्दादिगुणवर्जितम् ।
कथयन्ति कथं तत्त्वं मनोवाचामगोचरम् ॥ ३७॥

जो सफेद आदि वर्गों से रहित है, शब्दादि गुणों से भी रहित है, जो मन और वाणी का विषय ही नहीं है उसे तत्व किस प्रकार कहा जा सकता है॥३७॥

यदाऽनृतमिदं सर्वं देहादिगगनोपमम् ।
तदा हि ब्रह्म संवेत्ति न ते द्वैतपरम्परा ॥ ३८॥

जिस समय यह सम्पूर्ण दृश्य जगत मिथ्या ज्ञात होने लगे तथा ये शरीर आदि आकाश के समान शून्य जान पड़े तभी ब्रह्म को ठीक प्रकार से जाना जाता है। उस समय तुझे द्वैत परम्परा का भान नहीं होगा॥३८॥

परेण सहजात्मापि ह्यभिन्नः प्रतिभाति मे ।
व्योमाकारं तथैवैकं ध्याता ध्यानं कथं भवेत् ॥ ३९॥

मुझे यह भान हो रहा है कि यह अनादि आत्मा परब्रह्म से भिन्न नहीं है जो आकाश के समान व्यापक एवं एक ही है तो फिर ध्याता और ध्यान कैसे हो सकता है॥३९॥

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत् ।
एतत्सर्वं न मे किंचिद्विशुद्धोऽहमजोऽव्ययः ॥ ४०॥

जो मैं करता हूँ, जो मैं भक्षण करता हूँ, जो मैं हवन करता हूँ, जो मैं देता हूँ वह सब किंचिद् भी मेरा नहीं है। मैं विशुद्ध, जन्म रहित एवं नाश रहित हूँ॥४०॥

सर्वं जगद्विद्धि निराकृतीदं सर्वं जगद्विद्धि विकारहीनम् ।
सर्वं जगद्विद्धि विशुद्धदेहं सर्वं जगद्विद्धि शिवैकरूपम् ॥ ४१॥

इस सम्पूर्ण जगत को तू आकार रहित जान, इस सम्पूर्ण जगत को तू विकार रहित जान, इस सम्पूर्ण जगत को तू विशुद्ध ब्रह्म का शरीर जान, इस सम्पूर्ण जगत को तू कल्याण स्वरूप जान॥४१॥

तत्त्वं त्वं न हि सन्देहः किं जानाम्यथवा पुनः ।
असंवेद्यं स्वसंवेद्यमात्मानं मन्यसे कथम् ॥ ४२॥

वह तू ही है तथा तू वही है इसमें कोई सन्देह नहीं है फिर और मैं क्या जानूँ। फिर आत्मा को असंवेद्य 'किसी से भी जानने योग्य नहीं' तथा स्वसंवेद्य 'अपने से ही जानने योग्य' कैसे माना जाए॥४२॥

मायाऽमाया कथं तात छायाऽछाया न विद्यते ।
तत्त्वमेकमिदं सर्वं व्योमाकारं निरञ्जनम् ॥ ४३॥

हे तात! माया और अमाया कैसे है, छाया और अछाया भी विद्यमान नहीं है। यह तू एक ही है तथा यह सम्पूर्ण जगत आकाश के समान व्यापक एवं निर्दोष है॥४३॥

आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन ।
स्वभावनिर्मलः शुद्ध इति मे निश्चिता मतिः ॥ ४४॥

मैं आदि, मध्य और अन्त से रहित हूँ, न मैं कभी बद्ध ही हूँ। मेरी यह निश्चित मति है कि मैं स्वभाव से ही निर्मल और शुद्ध हूँ॥४४॥

महदादि जगत्सर्वं न किंचित्प्रतिभाति मे ।
ब्रह्मैव केवलं सर्वं कथं वर्णाश्रमस्थितिः ॥ ४५॥

महतत्व आदि से इस सम्पूर्ण जगत का मुझे थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं होता। केवल ब्रह्म ही सब कुछ है फिर वर्णाश्रम की स्थिति किस प्रकार हो सकती है॥४५॥

जानामि सर्वथा सर्वमहमेको निरन्तरम् ।
निरालम्बमशून्यं च शून्यं व्योमादिपञ्चकम् ॥ ४६॥

मैं जानता हूँ कि ये आकाशादि पंचक (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) शून्य है तथा मैं सब प्रकार से सर्वरूप एक ही निरन्तर, आलम्बन रहित एवं अशून्य हूँ॥४६॥

न षण्ढो न पुमान्न स्त्री न बोधो नैव कल्पना ।
सानन्दो वा निरानन्दमात्मानं मन्यसे कथम् ॥ ४७॥

आत्मा न नपुन्सक है, न पुरुष है, न स्त्री है, न ज्ञान है, न कल्पना ही है। यह आनन्दमय एवं निरानन्द भी नहीं है। फिर तुम आत्मा को किस प्रकार का मानते हो॥४७॥

षडङ्गयोगान्न तु नैव शुद्धं मनोविनाशान्न तु नैव शुद्धम् ।
गुरूपदेशान्न तु नैव शुद्धं स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धम् ॥ ४८॥

आत्मा षडंग योग से शुद्ध नहीं होता, मन के नाश होने से भी शुद्ध नहीं होता, गुरु के उपदेश से भी शुद्ध नहीं होता। वह स्वयं ही सार तत्व है और स्वयं ही शुद्ध है॥४८॥

न हि पञ्चात्मको देहो विदेहो वर्तते न हि ।
आत्मैव केवलं सर्वं तुरीयं च त्रयं कथम् ॥ ४९॥

आत्मा पंचभौतिक शरीर भी नहीं है तथा देह से रहित भी नहीं वर्तता है। आत्मा ही केवल और सर्व रूप है फिर इसकी तुरीय और तीन अवस्थाएँ कैसे हैं॥४९॥

न बद्धो नैव मुक्तोऽहं न चाहं ब्रह्मणः पृथक् ।
न कर्ता न च भोक्ताहं व्याप्यव्यापकवर्जितः ॥ ५०॥

मैं बद्ध भी नहीं हूँ, न मुक्त ही हूँ मैं ब्रह्म से भिन्न भी नहीं हूँ, न मैं कर्ता हूँ और न भोक्ता हूँ। मैं व्याप्य और व्यापक भाव से भी रहित हूँ॥५०॥

यथा जलं जले न्यस्तं सलिलं भेदवर्जितम् ।
प्रकृतिं पुरुषं तद्वदभिन्नं प्रतिभाति मे ॥ ५१॥

जिस प्रकार जल में फेंका हुआ जल जलरूप हो भेद रहित हो जाता है वैसे ही प्रकृति और पुरुष मुझे अभिन्न प्रतीत होते हैं॥५१॥

यदि नाम न मुक्तोऽसि न बद्धोऽसि कदाचन ।
साकारं च निराकारमात्मानं मन्यसे कथम् ॥ ५२॥

यदि ऐसा प्रसिद्ध है कि तू मुक्त भी नहीं है और बद्ध भी नहीं है तो फिर आत्मा को साकार और निराकार किस प्रकार मानता है॥५२॥

जानामि ते परं रूपं प्रत्यक्षं गगनोपमम् ।
यथा परं हि रूपं यन्मरीचिजलसन्निभम् ॥ ५३॥

मैं तेरे परम रूप को जानता हूँ जो प्रत्यक्ष और आकाश के सदृश है। जिस प्रकार जगत का रूप मृगतृष्णा के जल की तरह है वैसा तुम्हारा नहीं है॥५३॥

न गुरुर्नोपदेशश्च न चोपाधिर्न मे क्रिया ।
विदेहं गगनं विद्धि विशुद्धोऽहं स्वभावतः ॥ ५४॥

न तो मेरा कोई गुरु है, न उपदेश ही हैं, न उपाधि है, न क्रिया है। मुझे तू देह से रहित आकाशवत् जान । मैं स्वभाव से ही शुद्ध हूँ॥५४॥

विशुद्धोऽस्य शरीरोऽसि न ते चित्तं परात्परम् ।
अहं चात्मा परं तत्त्वमिति वक्तुं न लज्जसे ॥ ५५॥

तू विशुद्ध है शरीर से रहित है, तू चित्त भी नहीं है। परात्पर है (प्रकृति से भी परे है)। मैं आत्मा हूँ, परम तत्व हूँ, इस प्रकार कहने में तुझे लज्जा नहीं आती है॥५५॥

कथं रोदिषि रे चित्त ह्यात्मैवात्मात्मना भव ।
पिब वत्स कलातीतमद्वैतं परमामृतम् ॥ ५६॥

हे चित्त ! तू क्यों रूदन करता हैं। निश्चय ही तू आत्म रूप है। यह मानकर स्वयं आत्म-स्वरूप हो जा तथा हे वत्स ! तू कला से अतीत अद्वैत रूपी परम अमृत का पान कर॥५६॥

नैव बोधो न चाबोधो न बोधाबोध एव च ।
यस्येदृशः सदा बोधः स बोधो नान्यथा भवेत् ॥ ५७॥

न तो तू ज्ञान है और न अज्ञान ही है, न ज्ञान एवं अज्ञान का संयुक्त रूप ही है। जिसे इस प्रकार का सदा ज्ञान है वह ज्ञान स्वरूप ही है। वह हमसे भिन्न नहीं होता॥५७॥

ज्ञानं न तर्को न समाधियोगो न देशकालौ न गुरूपदेशः ।
स्वभावसंवित्तरहं च तत्त्वमाकाशकल्पं सहजं ध्रुवं च ॥ ५८॥

मैं ज्ञान नहीं हूँ, तर्क नहीं हूँ, समाधि योग भी नहीं हूँ, न देश, काल और गुरु का उपदेश ही हूँ। मैं स्वभाव से ही ज्ञान स्वरूप, यथार्थ वस्तु, आकाश के समान व्यापक और स्वभाव से ही नित्य भी हूँ॥५८॥

न जातोऽहं मृतो वापि न मे कर्म शुभाशुभम् ।
विशुद्धं निर्गुणं ब्रह्म बन्धो मुक्तिः कथं मम ॥ ५९॥

न मैं उत्पन्न हुआ हूँ, न मेरी मृत्यु ही है। ये शुभ एवं अशुभै कर्म भी मेरे नहीं हैं। मैं शुद्ध निर्गुण ब्रह्म हूँ। मेरे बन्धन और मुक्ति कैसे कैसे हो सकती है॥५९॥

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः ।
अन्तरं हि न पश्यामि स बाह्याभ्यन्तरः कथम् ॥ ६०॥

जब यह आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, कभी चलायमान नहीं होता, पूर्ण है, एकरस है तो मैं इसे शरीर के भीतर ही नहीं देखता बल्कि वह बाहर और भीतर सर्वत्र है, उसे कैसे न देखें।॥६०॥

स्फुरत्येव जगत्कृत्स्नमखण्डितनिरन्तरम् ।
अहो मायामहामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना ॥ ६१॥

निश्चय ही इस सम्पूर्ण जगत का अखण्डित एवं निरन्तर रूप में स्फुरण हो रहा है। खेद है कि माया और महामोह द्वैत और अद्वैत की कल्पना का भी स्फुरण होता है॥६१॥

साकारं च निराकारं नेति नेतीति सर्वदा ।
भेदाभेदविनिर्मुक्तो वर्तते केवलः शिवः ॥ ६२॥

श्रुति सर्वदा ही साकार और निराकार को 'नेति-नेति' (यह सब नहीं हैं, यह सब नहीं है) कहती है। यह ब्रह्म भेद और अभेद से रहित केवल शिव (कल्याण रूप) ही वर्तता है॥६२॥

न ते च माता च पिता च बन्धुः न ते च पत्नी न सुतश्च मित्रम् ।

न पक्षपाती न विपक्षपातः कथं हि संतप्तिरियं हि चित्ते ॥ ६३॥

न तो तेरी माता है, न पिता है, न बन्धु है और न पत्नी है, न पुत्र है, न मित्र है, न पक्षपाती है न विपक्षी है। फिर चित्त में यह सन्ताप कैसे करते हो॥६३॥

दिवा नक्तं न ते चित्तं उदयास्तमयौ न हि ।
विदेहस्य शरीरत्वं कल्पयन्ति कथं बुधाः ॥ ६४॥

तेरे चेतन में दिन और रात्रि नहीं है न उदय और अस्त ही है। जो विदेह है (जिसका कोई शरीर नहीं है) उसमें बुद्धिमान लोग शरीर की कैसे कल्पना करते हैं॥६४॥

नाविभक्तं विभक्तं च न हि दुःखसुखादि च ।
न हि सर्वमसर्वं च विद्धि चात्मानमव्ययम् ॥ ६५॥

आत्मा न तो विभाग वाला है न विभाग रहित हैं। और न सुख-दुःख आदि वाला ही है, न यह सर्व है और न असर्व है और आत्मा को तू नाश रहित जान॥६५॥

नाहं कर्ता न भोक्ता च न मे कर्म पुराऽधुना ।
न मे देहो विदेहो वा निर्ममेति ममेति किम् ॥ ६६॥

मैं कर्ता नहीं हूँ और भोक्ता भी नहीं हूँ, मेरे पूर्व और वर्तमान के कर्म भी नहीं हैं। मेरा शरीर नहीं है अथवा बिना शरीर के भी नहीं हूँ। मैं ममता से रहित और ममता वाला कैसे हो सकता हूँ॥६६॥

न मे रागादिको दोषो दुःखं देहादिकं न मे ।
आत्मानं विद्धि मामेकं विशालं गगनोपमम् ॥ ६७॥

ये रागादिक दोष मेरे नहीं हैं, शरीर के दु:ख आदि भी मेरे नहीं हैं। मुझे एक ही आत्म रूप एवं विशाल आकाश के समान तू जान॥६७॥

सखे मनः किं बहुजल्पितेन सखे मनः सर्वमिदं वितर्क्यम् ।
यत्सारभूतं कथितं मया ते त्वमेव तत्त्वं गगनोपमोऽसि ॥ ६८॥

हे सखे मन ! बहुत कहने से क्या प्रयोजन है, हे सखे मन! यह सम्पूर्ण जगत तर्क करने योग्य है। जो सारभूत था उसे मैंने तुझे कह दिया कि तू ही एक तत्त्व ब्रह्म है जो आकाश के समान निर्लेप, असंग व व्यापक है॥६८॥

येन केनापि भावेन यत्र कुत्र मृता अपि ।
योगिनस्तत्र लीयन्ते घटाकाशमिवाम्बरे ॥ ६९॥

जिस किसी भी भाव से योगी (ज्ञानी) को जहाँ कहीं भी मरण होता है वह वहीं ब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जाता है जैसे घटाकाश महाकाश में लीन होता है॥६९॥

तीर्थे चान्त्यजगेहे वा नष्टस्मृतिरपि त्यजन् ।
समकाले तनुं मुक्तः कैवल्यव्यापको भवेत् ॥ ७०॥

ज्ञानवान पुरुष (जीवन्मुक्त) तीर्थ में अथवा चाण्डाल के घर में बेहोश हुआ भी, समकाल में शरीर को त्याग कर भी मुक्त हुआ व्यापक ब्रह्मरूप हो जाता है॥७०॥

धर्मार्थकाममोक्षांश्च द्विपदादिचराचरम् ।
मन्यन्ते योगिनः सर्वं मरीचिजलसन्निभम् ॥ ७१॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा द्विपद आदि जितने स्थावर एवं जंगम जीव हैं, ज्ञानी लोग इन्हें मृगतृष्णा के जल के समान मानते हैं॥७१॥

अतीतानागतं कर्म वर्तमानं तथैव च ।
न करोमि न भुञ्जामि इति मे निश्चला मतिः ॥ ७२॥

भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कर्मों को भी मैं नहीं कहता हूँ न इनके फलों को ही भोगता हूँ। इस प्रकार मेरी स्थिर बुद्धि है॥७२॥

शून्यागारे समरसपूतस्तिष्ठन्नेकः सुखमवधूतः ।
चरति हि नग्नस्त्यक्त्वा गर्वं विन्दति केवलमात्मनि सर्वम् ॥ ७३॥

शून्य मन्दिर में समता रूपी रस से पवित्र हुआ अवधूत (संन्यासी) अकेला ही सुखपूर्वक रहता है। अहंकार का त्याग करके नग्न ही विचरण करता है तथा केवल आत्मा में ही सबको जानता है॥७३॥

त्रितयतुरीयं नहि नहि यत्र विन्दति केवलमात्मनि तत्र ।
धर्माधर्मौ नहि नहि यत्र बद्धो मुक्तः कथमिह तत्र ॥ ७४॥

जहाँ तुरीय आदि तीनों अवस्थाएँ नहीं हैं, वहाँ केवल आत्मा को ही जानता है। जहाँ धर्म और अधर्म भी नहीं है। वहाँ बद्ध और मुक्त का व्यवहार भी कैसे हो सकता है॥७४॥

विन्दति विन्दति नहि नहि मन्त्रं छन्दोलक्षणं नहि नहि तन्त्रम् ।
समरसमग्नो भावितपूतःप्रलपितमेतत्परमवधूतः ॥ ७५॥

चित्त से शुद्ध हुआ आत्मरस में मग्न अवधूत किसी मन्त्र को नहीं जानता है, न किसी छन्द के रूप व तन्त्र को ही जानता है। यह केवल परब्रह्म का ही कथन करता है॥७५॥

सर्वशून्यमशून्यं च सत्यासत्यं न विद्यते ।
स्वभावभावतः प्रोक्तं शास्त्रसंवित्तिपूर्वकम् ॥ ७६॥

शास्त्रों ने ज्ञानपूर्वक कहा है कि यह सम्पूर्ण जगत शून्यरूप है और ब्रह्म ही अशून्य है। वह स्वभाव से ही भावरूप है। उसमें सत्य और असत्य भी नहीं है॥७६॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

॥प्रथम अध्याय समाप्त॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

॥अवधूत गीता ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः दूसरा अध्याय

बालस्य वा विषयभोगरतस्य वापि
मूर्खस्य सेवकजनस्य गृहस्थितस्य ।
एतद्गुरोः किमपि नैव न चिन्तनीयं
रत्नं कथं त्यजति कोऽप्यशुचौ प्रविष्टम् ॥ १॥

इन गुरुओं में बालक का अथवा विषयभोग में रहकर मूर्ख का, सेवक जन का, गृहस्थी का चिन्तन नहीं करना चाहिए (क्योंकि) अपवित्र वस्तु में गिरे हुए रत्न को कोई भी किस प्रकार छोड़ देता है॥१॥

नैवात्र काव्यगुण एव तु चिन्तनीयो
ग्राह्यः परं गुणवता खलु सार एव ।
सिन्दूरचित्ररहिता भुवि रूपशून्या
पारं न किं नयति नौरिह गन्तुकामान् ॥ २॥

यहाँ (ज्ञान प्राप्ति में) काव्य गुण (विद्वता) का ही चिन्तन नहीं करना चाहिए, निश्चय ही गुणगान से परम सार वस्तु ही ग्रहण करनी चाहिए। इस संसार में नदी पार जाने की कामना वालों को क्या सिन्दूर की चित्रकारी से रहित रूप से शून्य नाव पार नहीं लगाती है॥२॥

प्रयत्नेन विना येन निश्चलेन चलाचलम् ।
ग्रस्तं स्वभावतः शान्तं चैतन्यं गगनोपमम् ॥ ३॥

जिस निश्चल (ब्रह्म) से बिना ही प्रयत्न के यह चल एवं अचल ग्रस्त है वह (ब्रह्म) स्वभाव से ही शान्त एवं गगन के सद्रश है॥३॥

अयत्नाच्छालयेद्यस्तु एकमेव चराचरम् ।
सर्वगं तत्कथं भिन्नमद्वैतं वर्तते मम ॥ ४॥

फिर जो एक ही (ब्रह्म) समस्त चर एवं अचर जगत को बिना ही प्रयत्न के चलायमान करता है। वह सर्वगत है। फिर मझसे भिन्न अद्वैत रूप होकर कैसे वर्तता है॥४॥

अहमेव परं यस्मात्सारात्सारतरं शिवम् ।
गमागमविनिर्मुक्तं निर्विकल्पं निराकुलम् ॥ ५॥

मैं ही जिससे सूक्ष्म हूँ, सार असार से रहित कल्याण स्वरूप हूँ, गमनागमन से रहित हूँ, निर्विकल्प तथा कुल से रहित हूँ॥५॥

सर्वावयवनिर्मुक्तं तथाहं त्रिदशार्चितम् ।
सम्पूर्णत्वान्न गृह्णामि विभागं त्रिदशादिकम् ॥ ६॥

सो मैं सम्पूर्ण अवयवों से रहित हूँ, देवताओं द्वारा भी पूजित हूँ। सम्पूर्ण होने से देवताओं के विभाग को भी ग्रहण नहीं करता हूँ॥६॥

प्रमादेन न सन्देहः किं करिष्यामि वृत्तिमान् ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते बुद्बुदाश्च यथा जले ॥ ७॥

अन्त:करण की वृत्तियों को क्या प्रमादवश मैं उत्पन्न करता हूँ? ये जल में बुदबुदे के समान अपने आप ही उत्पन्न होती हैं तथा विलीन हो जाती हैं इसमें सन्देह नहीं है॥७॥

महदादीनि भूतानि समाप्यैवं सदैव हि ।
मृदुद्रव्येषु तीक्ष्णेषु गुडेषु कटुकेषु च ॥ ८॥

कटुत्वं चैव शैत्यत्वं मृदुत्वं च यथा जले ।
प्रकृतिः पुरुषस्तद्वदभिन्नं प्रतिभाति मे ॥ ९॥

जिस प्रकार जल से उसकी शीतलता एवं कोमलता भिन्न नहीं हैं, मृदु पदार्थों में मृदुता, तीक्ष्ण पदार्थों में तीक्ष्णता, गुड़ में मिठास एवं कट पदार्थों में कटुता भिन्न नहीं है उसी प्रकार महतत्त्व आदि भूत पदार्थों की भिन्नता सदा से समाप्त करे। वैसे ही मुझे तो प्रकृति और पुरुष भी अभिन्न ज्ञात होते हैं॥८-९॥

सर्वाख्यारहितं यद्यत्सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं परम् ।
मनोबुद्धीन्द्रियातीतमकलङ्कं जगत्पतिम् ॥ १०॥

ईदृशं सहजं यत्र अहं तत्र कथं भवेत् ।
त्वमेव हि कथं तत्र कथं तत्र चराचरम् ॥ ११॥

जो आत्मा सम्पूर्ण संज्ञा से रहित है, सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, श्रेष्ठ है, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का विषय नहीं हैं, कलंक से रहित है, जगत का स्वामी है, इसी प्रकार के गुण जिसमें स्वभाव से विद्यमान हैं उसमें

'मैं' का कथन किस प्रकार बनता है, 'तू' का कथन भी कैसे बनता है, चर एवं अचर का कथन भी कैसे बनता है॥१०-११॥

गगनोपमं तु यत्प्रोक्तं तदेव गगनोपमम् ।
चैतन्यं दोषहीनं च सर्वज्ञं पूर्णमेव च ॥ १२॥

जिसे आकाश से सदृश कहा गया है वह आकाश के सदृश ही है। वह चैतन्य, दोष से रहित, सर्वज्ञ और पूर्ण भी है॥१२॥

पृथिव्यां चरितं नैव मारुतेन च वाहितम् ।
वरिणा पिहितं नैव तेजोमध्ये व्यवस्थितम् ॥ १३॥

वह पृथ्वी में गमन नहीं करता, हवा उसको ले नहीं जा सकता, जल उसको आच्छादित नहीं कर सकता, वह तेज के मध्य स्थित रहता है॥१३॥

आकाशं तेन संव्याप्तं न तद्व्याप्तं च केनचित् ।
स बाह्याभ्यन्तरं तिष्ठत्यवच्छिन्नं निरन्तरम् ॥ १४॥

उस (ब्रह्म) से आकाश भी संव्याप्त है, वह किसी से व्याप्त नहीं है, वह बाहर और भीतर एकरस अनिच्छिन्न रूप से सर्वत्र स्थित है॥१४॥

सूक्ष्मत्वात्तददृश्यत्वान्निर्गुणत्वाच्च योगिभिः ।
आलम्बनादि यत्प्रोक्तं क्रमादालम्बनं भवेत् ॥ १५॥

योगियों ने जिसके आलम्बनादि की बात कही है, वह आलम्बन क्रम से ही होता है क्योंकि वह ब्रह्म सूक्ष्म, अदृश्य एवं निर्गुण हैं॥१५॥

सततऽभ्यासयुक्तस्तु निरालम्बो यदा भवेत् ।
तल्लयाल्लीयते नान्तर्गुणदोषविवर्जितः ॥ १६॥

जिस समय सतत अभ्यास से युक्त होकर जब चित्त निरालम्ब हो जाता है जब वह गुण दोष से रहित होता है उसी समय चित्त के लय होने से उसका ब्रह्म में लय हो जाता है। इसके बिना नहीं होता॥१६॥

विषविश्वस्य रौद्रस्य मोहमूर्च्छाप्रदस्य च ।
एकमेव विनाशाय ह्यमोघं सहजामृतम् ॥ १७॥

यह विश्व रूपी विष बड़ा भयानक और मोह एवं मूछों को देने वाला है। इसके विनाश का एक ही अमोघ सहज अमृत (आत्म-ज्ञान) है॥१७॥

भावगम्यं निराकारं साकारं दृष्टिगोचरम् ।
भावाभावविनिर्मुक्तमन्तरालं तदुच्यते ॥ १८॥

निराकार (ब्रह्म) को भाव (चित्त) से ही जाना जाता है तथा साकार दृष्टि का विषय है। जो भाव और अभाव से ही रहित है उसे अन्तराल कहा जाता है॥१८॥

बाह्यभावं भवेद्विश्वमन्तः प्रकृतिरुच्यते ।
अन्तरादन्तरं ज्ञेयं नारिकेलफलाम्बुवत् ॥ १९॥

बाहर जितना भी भाव पदार्थ है वह विश्व होता है। इसके भीतर को प्रकृति कहते हैं। इस अन्तर प्रकृति के भी भीतर (ब्रह्म) जानने योग्य हैं जैसे नारियल के फल के भीतर जल होता है॥१९॥

भ्रान्तिज्ञानं स्थितं बाह्यं सम्यग्ज्ञानं च मध्यगम् ।
मध्यान्मध्यतरं ज्ञेयं नारिकेलफलाम्बुवत् ॥ २०॥

बाहर स्थित ज्ञान भ्रान्ति रूप हैं, मध्य का ज्ञान यथार्थ ज्ञान है, मध्य के भी मध्य नारियल के फल के भीतर के जल के समान जानने योग्य है॥२०॥

पौर्णमास्यां यथा चन्द्र एक एवातिनिर्मलः ।
तेन तत्सदृशं पश्येद्द्विधादृष्टिर्विपर्ययः ॥ २१॥

जिस प्रकार पूर्णमासी में एक ही चन्द्रमा अति निर्मल होता है उसी प्रकार आत्मा को भी उसी के समान देखें। दृष्टि दोष से ही वह दो प्रकार का दिखाई देता है। यह दृष्टि भ्रम है॥२१॥

अनेनैव प्रकारेण बुद्धिभेदो न सर्वगः ।
दाता च धीरतामेति गीयते नामकोटिभिः ॥ २२॥

इसी पूर्वोक्त प्रकार से सर्वगत चैतन्य में ज्ञान का भेद नहीं होता है और इस ज्ञान को देने वाला धीरता को प्राप्त होता है और करोड़ों नामों से उस का गुणगान होता है॥२२॥

गुरुप्रज्ञाप्रसादेन मूर्खो वा यदि पण्डितः ।
यस्तु सम्बुध्यते तत्त्वं विरक्तो भवसागरात् ॥ २३॥

मूर्ख हो अथवा पंडित (शास्त्रज्ञ) हो, जो गुरु के ज्ञान रूपी प्रसाद से आत्म तत्व को ठीक प्रकार से ज्ञान लेता है वह संसार रूपी भवसागर से विरक्त हो जाता है (जन्म-मरण से छूट जाता है)॥२३॥

रागद्वेषविनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः ।
दृढबोधश्च धीरश्च स गच्छेत्परमं पदम् ॥ २४॥

जो राग द्वेष से रहित है, सम्पूर्ण भूतों के हित में रत है और दृढ़ बोध वाला है, धीर है वह परमपद को गमन करता है॥२४॥

घटे भिन्ने घटाकाश आकाशे लीयते यथा ।
देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि ॥ २५॥

जिस प्रकार घड़े के फूटने पर घड़े का आकाश महाकाश में लय हो जाता है उसी प्रकार देह के नाश होने पर योगी परमात्म स्वरूप में लीन हो जाता है॥२५॥

उक्तेयं कर्मयुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः ।
न चोक्ता योगयुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः ॥ २६॥

'अन्त मति सो गति' अन्त में जैसी मति (बुद्धि) होती है वैसी ही उसकी गति होती है-यह कर्मयुक्त मनुष्यों (अज्ञानियों) के लिए ही कहा गया है। योगयुक्त मनुष्यों के लिए नहीं कहा गया है कि अन्त में जैसी मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है॥२६॥

या गतिः कर्मयुक्तानां सा च वागिन्द्रियाद्वदेत् ।
योगिनां या गतिः क्वापि ह्यकथ्या भवतोर्जिता ॥ २७॥

कर्मयुक्त अज्ञानियों की जो गति शास्त्रों में कही गई है वह वाणी तथा इन्द्रियों से कही जाती है और योगियों की गति जो तुमने संग्रह की है वह कहीं भी कथन करने योग्य नहीं है॥२७॥

एवं ज्ञात्वा त्वमुं मार्गं योगिनां नैव कल्पितम् ।
विकल्पवर्जनं तेषां स्वयं सिद्धिः प्रवर्तते ॥ २८॥

जो मार्ग कर्मियों के मार्ग की भाँति कल्पित नहीं है। उस विकल्प रहित मार्ग को जानकर योगी उससे अपने आप सिद्धि में प्रवृत्त होता है।॥२८॥

तीर्थे वान्त्यजगेहे वा यत्र कुत्र मृतोऽपि वा ।
न योगी पश्यते गर्भं परे ब्रह्मणि लीयते ॥ २९॥

योगी (ब्रह्मज्ञानी) तीर्थ में अथवा अन्त्यज (चांडाल) के घर में अथवा जहाँ कहीं भी मरे वह गर्भ को नहीं देखता है। वह परब्रह्म में लय हो जाता है॥२९॥

सहजमजमचिन्त्यं यस्तु पश्येत्स्वरूपं
घटति यदि यथेष्टं लिप्यते नैव दोषैः ।
सकृदपि तदभावात्कर्म किंचिन्नकुर्यात्
तदपि न च विबद्धः संयमी वा तपस्वी ॥ ३०॥

फिर जो (ज्ञानी) एक बार भी स्वाभाविक जन्म से रहित, मन एवं वाणी द्वारा उस अचिन्त्य (ब्रह्म) स्वरूप को देख लेता है यदि वह यथेष्ट कर्म को करता है तो वह दोषों में लिप्त नहीं होता। दोषों का अभाव हो जाने से किंचित् कर्म को न भी करे तो भी संयमी अथवा तपस्वी बद्ध नहीं होता॥३०॥

निरामयं निष्प्रतिमं निराकृतिं निराश्रयं निर्वपुषं निराशिषम् ।
निर्द्वन्द्वनिर्मोहमलुप्तशक्तिकं तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥ ३१॥

ज्ञानी जगत के स्वामी उस शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जो रोग रहित, आकार रहित, प्रतिमा रहित, निराश्रय, शरीर से रहित, इच्छा से रहित, द्वन्द्व रहित, मोह रहित तथा अलुप्त शक्ति (विद्यमान शक्ति) वाला है॥३१॥

वेदो न दीक्षा न च मुण्डनक्रिया गुरुर्न शिष्यो न च यन्त्रसम्पदः ।
मुद्रादिकं चापि न यत्र भासते तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३२॥

ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जिसमें वेद और दीक्षा नहीं हैं, न मुण्डन क्रिया ही हैं, गुरु और शिष्य भी नहीं है और यन्त्रों की सम्पदा भी नहीं हैं, और मुद्रा आदि भी जिसमें नहीं प्रतीत होते हैं॥३२॥

न शाम्भवं शाक्तिकमानवं न वा पिण्डं च रूपं च पदादिकं न वा ।
आरम्भनिष्पत्तिघटादिकं च नो तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥ ३३॥

ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जिसमें न शाम्भवी, न ही शक्तिचालिनी आदि है, न उसमें पिण्डभाव है, न रूप है, न पाँव आदि ही हैं। न घट के समान आदि व अन्त ही है॥३३॥

यस्य स्वरूपात्सचराचरं जगदुत्पद्यते तिष्ठति लीयतेऽपि वा ।
पयोविकारादिव फेनबुद्बुदास्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३४॥

ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जिसके स्वरूप से समस्त चर अचर (स्थावर, जंगम) जगत उत्पन्न होता हैं, स्थित रहता है तथा उसी में विलीन होता है जैसे जल के विकार से फेन और बुदबुदे उत्पन्न होते हैं व उसी में विलीन हो जाते हैं॥३४॥

नासानिरोधो न च दृष्टिरासनं बोधोऽप्यबोधोऽपि न यत्र भासते ।
नाडीप्रचारोऽपि न यत्र किञ्चित्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३५॥

ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जिसमें नासाग्र भाग में दृष्टि निरोध नहीं है, न आसन ही है, जिसमें ज्ञान और अज्ञान भी नहीं भासता है जिसमें नाड़ी का विस्तार भी नहीं हैं॥३५॥

नानात्वमेकत्वमुभत्वमन्यता अणुत्वदीर्घत्वमहत्त्वशून्यता ।
मानत्वमेयत्वसमत्ववर्जितं तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३६॥

ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वते आत्मा को प्राप्त होता है जिसमें नानात्व, एकत्व अथवा दोनों नहीं हैं, जो अणुत्व, दीर्घत्व, महत्व एवं शून्यता से रहित हैं तथा मानत्व, मेयत्व एवं समच से रहित है॥३६॥

सुसंयमी वा यदि वा न संयमी सुसंग्रही वा यदि वा न संग्रही ।
निष्कर्मको वा यदि वा सकर्मकस्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्
॥३७॥

जो ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप आत्मा को प्राप्त हो जाता है वह सुसंयमी हो अथवा असंयमी, संग्रही हो अथवा असंग्रही, निष्कर्मी हो अथवा सकर्मी कोई अन्तर नहीं पड़ता॥३७॥

मनो न बुद्धिर्न शरीरमिन्द्रियं तन्मात्रभूतानि न भूतपञ्चकम् ।
अहंकृतिश्चापि वियत्स्वरूपकं तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३८॥

ज्ञानी उस ईश्वर स्वरूप शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है जो न मन है, न बुद्धि हैं, न शरीर है, न इन्द्रिय ही है, न तन्मात्रा है, न पंच महाभूत है, न अहंकार ही है। वह आकाश तुल्य व्यापक है॥३८॥

विधौ निरोधे परमात्मतां गते न योगिनश्चेतसि भेदवर्जिते ।
शौचं न वाशौचमलिङ्गभावना सर्वं विधेयं यदि वा निषिध्यते ॥३९॥

भेद से रहित परम आत्मता (ब्रह्म) को प्राप्त योगी के चित्त में विधि और निरोध नहीं होते, पवित्रता, अपवित्रता तथा लिंग भावना (चिह्न भावना) भी नहीं होती तथा सम्पूर्ण विषयों का ही निषेध हो जाता हैं॥३९॥

मनो वचो यत्र न शक्तमीरितुं नूनं कथं तत्र गुरूपदेशता ।
इमां कथामुक्तवतो गुरोस्तद्युक्तस्य तत्त्वं हि समं प्रकाशते ॥४०॥

जिस आत्मा में मन और वाणी द्वारा कथन करने की सामर्थ्य नहीं है वहाँ गुरु का उपदेश कैसे हो सकता है। इस कथन को कहने वाले उस आत्मा से जुड़े हुए गुरु को निश्चय ही एकरस आत्म तत्व प्रकाशमान होता है॥४०॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

॥अवधूत गीता ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः तीसरा अध्याय

गुणविगुणविभागो वर्तते नैव किञ्चित्
रतिविरतिविहीनं निर्मलं निष्प्रपञ्चम् ।
गुणविगुणविहीनं व्यापकं विश्वरूपं
कथमहमिह वन्दे व्योमरूपं शिवं वै ॥ १॥

जिस (आत्मा, ब्रह्म) में किंचित भी गुण एवं निर्गुण का विभाग नहीं हैं, जो रति और विरति से रहित निर्मल एवं प्रपंच से रहित है, उस सगुण निर्गुण से रहित, व्यापक, विश्व रूप की मैं कैसे वन्दना करूँ जो आकाश स्वरूप व कल्याण स्वरूप है॥१॥

श्वेतादिवर्णरहितो नियतं शिवश्च
कार्यं हि कारणमिदं हि परं शिवश्च ।
एवं विकल्परहितोऽहमलं शिवश्च
स्वात्मानमात्मनि सुमित्र कथं नमामि ॥ २॥

जो श्वेद आदि वर्गों से रहित नित्य एवं शिव रूप (कल्याण स्वरूप) है, यही कारण एवं कार्य हैं, श्रेष्ठ व शिव ही हैं। तथा विकल्प रहित,

परिपूर्ण शिव रूप ही है। हे सुमित्र! फिर मैं अपनी आत्मा को आत्मा में किस प्रकार नमस्कार करूँ॥२॥

निर्मूलमूलरहितो हि सदोदितोऽहं
निर्धूमधूमरहितो हि सदोदितोऽहम् ।
निर्दीपदीपरहितो हि सदोदितोऽहं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ३॥

मैं निर्मूल और मूल से रहित हूँ, निधूम और धूम से रहित हूँ, निर्दीप और दीप से रहित हूँ। मैं सदा ही उदित हूँ, ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश की उपमा वाला हूँ॥३॥

निष्कामकाममिह नाम कथं वदामि
निःसङ्गसङ्गमिह नाम कथं वदामि ।
निःसारसाररहितं च कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ४॥

मैं आत्म स्वरूप होने से ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ फिर अपने को निकास एवं कामना नाम वाला किस प्रकार कहूँ, नि:संग एवं संग वाला भी किस प्रकार कहूँ, और नि:सार और सार रहित भी किस प्रकार कहूँ॥४॥

अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि
द्वैतस्वरूपमखिलं हि कथं वदामि ।
नित्यं त्वनित्यमखिलं हि कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ५॥

इस सम्पूर्ण जगत को मैं अद्वैत रूप कैसे कहूँ, इस सम्पूर्ण जगत को में द्वैत स्वरूप कैसे कहूँ, इस सम्पूर्ण जगत को नित्य अथवा अनित्य कैसे कहूँ। मैं ज्ञानामृत समरस एवं आकाश तुल्य हूँ॥५॥

स्थूलं हि नो नहि कृशं न गतागतं हि
आद्यन्तमध्यरहितं न परापरं हि ।
सत्यं वदामि खलु वै परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ६॥

हमारी आत्मा स्थूल भी नहीं है, न सूक्ष्म है, ने गमनानगमन वाला ही है, यह आदि, अन्त और मध्य से रहित है, पर ऊपर से भी रहित है। मैं निश्चय ही सत्य कहता हूँ कि मैं परमार्थ तत्व, ज्ञानामृत, एकरस एवं आकाश की उपमा ॥६॥

संविद्धि सर्वकरणानि नभोनिभानि
संविद्धि सर्वविषयांश्च नभोनिभांश्च ।
संविद्धि चैकममलं न हि बन्धमुक्तं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ७॥

सम्पूर्ण करणों को (इन्द्रियों को) तू आकाश की भाँति शुन्य जान और सम्पूर्ण विषयों को तू आकाश के तुल्य शून्य जान, एक आत्मा को ही मायामल से रहित तू जान जो बन्धन और मुक्ति से रहित है वही मैं हूँ जो ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला है॥७॥

दुर्बोधबोधगहनो न भवामि तात
दुर्लक्ष्यलक्ष्यगहनो न भवामि तात ।

आसन्नरूपगहनो न भवामि तात
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ८॥

हे तात ! बोध स्वरूप आत्मा का ज्ञान बड़ा दुर्बोध है तथा गम्भीर है, वह मैं नहीं हैं। वह दुर्लक्ष्य है, इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता उसे जानना भी गम्भीर है, सो मैं नहीं हैं। वह अति समीप है फिर भी उसको जानना गम्भीर है, वह मैं नहीं हैं। मैं समरस, ज्ञानामृत एवं आकाश को उपमा वाला हूँ॥८॥

निष्कर्मकर्मदहनो ज्वलनो भवामि
निर्दुःखदुःखदहनो ज्वलनो भवामि ।
निर्देहदेहदहनो ज्वलनो भवामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ९॥

मैं कर्म से रहित हैं फिर भी मैं कर्मों का दाहक अग्नि हूँ, मैं दु:खों से रहित हैं फिर भी दु:खों का दाहक अग्नि हूँ मैं देह से रहित हूँ फिर भी देह का दाहक अग्नि हूँ। मैं ज्ञानामृत समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ॥९॥

निष्पापपापदहनो हि हुताशनोऽहं
निर्धर्मधर्मदहनो हि हुताशनोऽहम् ।
निर्बन्धबन्धदहनो हि हुताशनोऽहं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ १०॥

मैं निष्पाप हैं, फिर भी पापों को नष्ट करने में मैं अग्नि रूप हूँ, मैं निधर्म हैं फिर भी धर्म और अधर्म को जलाने में मैं अग्नि रूप हूँ, मैं निर्बन्ध

होते हुए भी बन्धनों को जलाने में अग्नि रूप हूँ। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश के समान हूँ॥१०॥

निर्भावभावरहितो न भवामि वत्स
निर्योगयोगरहितो न भवामि वत्स ।
निश्चित्तचित्तरहितो न भवामि वत्स
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ११॥

हे वत्स! मैं निर्भाव होते हुए भी भाव से रहित हूँ, मैं निर्योग होकर भी योग से रहित नहीं हैं, मैं बिना चित्त वाला होकर भी चित्त से रहित नहीं हूँ। मैं ज्ञानामृत, एकरस तथा आकाश की उपमा वाला हूँ॥११॥

निर्मोहमोहपदवीति न मे विकल्पो
निःशोकशोकपदवीति न मे विकल्पः ।
निर्लोभलोभपदवीति न मे विकल्पो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ १२॥

मेरे में निर्मोह अथवा मोह वाला विकल्प नहीं है, शोकरहित अथवा शोक वाला विकल्प भी मेरे में नहीं हैं, निर्लोभ अथवा लोभ वाला विकल्प भी मेरे में नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश को उपमा वाला हूँ॥१२॥

संसारसन्ततिलता न च मे कदाचित्
सन्तोषसन्ततिसुखो न च मे कदाचित् ।
अज्ञानबन्धनमिदं न च मे कदाचित्
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ १३॥

संसार की संतति रूपी लता मेरे में नहीं है, सन्तोष रूपी संतति का सुख भी मेरे में नहीं है, ये अज्ञान के बन्धन भी मेरे में नहीं है। मैं एकरस, ज्ञानामृत एवं आकाश की उपमा वाला हूँ॥१३॥

संसारसन्ततिरजो न च मे विकारः
सन्तापसन्ततितमो न च मे विकारः ।
सत्त्वं स्वधर्मजनकं न च मे विकारो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ १४॥

संसार को संतति रज (रजोगुण) हैं यह विकार मेरे में नहीं है, सन्ताप को संतति तम (तमोगुण) हैं वह भी विकार मेरे में नहीं है, स्वधर्म का जनक सत्त्व (सतोगुण) है वह विकार भी मेरे में नहीं है। में ज्ञानामृत, एकरस तथा आकाश की उपमा वाला ॥१४॥

सन्तापदुःखजनको न विधिः कदाचित्
सन्तापयोगजनितं न मनः कदाचित् ।
यस्मादहङ्कृतिरियं न च मे कदाचित्
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ १५॥

सन्ताप रूपी दु:ख की जनक जो विधि है वह मैं नहीं हूँ सन्ताप के योग से उत्पन्न हुआ मन भी मैं नहीं हैं, जिससे यह अहंकार भी मेरा नहीं है। मैं ज्ञानामृत, एकरस तथा आकाश की उपमा वाला हूँ॥१५॥

निष्कम्पकम्पनिधनं न विकल्पकल्पं
स्वप्नप्रबोधनिधनं न हिताहितं हि ।
निःसारसारनिधनं न चराचरं हि

ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ १६॥

मैं कम्पन रहित और कम्पन का नाश करने वाला नहीं हैं, न संकल्प और विकल्प ही हूँ, स्वप्न और जाग्रत का नाश करने वाला भी नहीं हैं, न हित और अहित ही हूँ, में नि:सार और सार का नाश करने वाला भी नहीं हूँ तथा चर एवं अचर भी नहीं हूँ। में ज्ञानरूपी अमृत, एकरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ॥१६॥

नो वेद्यवेदकमिदं न च हेतुतर्क्यं
वाचामगोचरमिदं न मनो न बुद्धिः ।
एवं कथं हि भवतः कथयामि तत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ १७॥

यह (आत्मा, ब्रह्म) किसी से नहीं जाना जाता, यह (स्वयं) जानने वाला है। यह तर्क का हेतु भी नहीं है, वाणी का विषय भी नहीं है, दिखाई भी नहीं देता, मन और बुद्धि भी इसे नहीं जान सकती। इसलिए मैं तुम्हारे को इस तत्व को किस प्रकार कथन करूं। मैं ज्ञानामृत, एकरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ॥१७॥

निर्भिन्नभिन्नरहितं परमार्थतत्त्व-
मन्तर्बहिर्न हि कथं परमार्थतत्त्वम् ।
प्राक्सम्भवं न च रतं नहि वस्तु किञ्चित्
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ १८॥

यह परमार्थ तत्व भेद और अभेद से रहित है, भीतर और बाहर का भेद भी इसमें नहीं है उस परमार्थ तत्व का कथन किस प्रकार है।

यह पूर्व में था ऐसा भी नहीं है न यह किसी में लिप्त है न यह कोई पदार्थ ही है। में स्वयं ज्ञानामृत, एकरस, आकाशतुल्य व्यापक ब्रह्म ही हूँ॥१८॥

रागादिदोषरहितं त्वहमेव तत्त्वं
दैवादिदोषरहितं त्वहमेव तत्त्वम् ।
संसारशोकरहितं त्वहमेव तत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ १९॥

रागादि दोषों से रहित में ही आत्मतत्व हूँ, दैव आदि दोषों से रहित में ही आत्मतत्व हूँ, सांसारिक शोक से रहित में ही आत्मतत्त्व हूँ। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश के समान हूँ॥१९॥

स्थानत्रयं यदि च नेति कथं तुरीयं
कालत्रयं यदि च नेति कथं दिशश्च ।
शान्तं पदं हि परमं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ २०॥

आत्मा में स्थान त्रय (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) नहीं है फिर तुरीय अवस्था कैसे हो सकती है। तीनों काल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) भी नहीं है फिर दिशाएँ कैसे हो सकती हैं। यह आत्मा (ब्रह्म) शान्त पद वाला, परम परमार्थ तत्व है। मैं ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश तुल्य हूँ॥२०॥

दीर्घो लघुः पुनरितीह नमे विभागो
विस्तारसंकटमितीह न मे विभागः ।
कोणं हि वर्तुलमितीह न मे विभागो

ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ २१॥

फिर इस लोक में बड़े और छोटे का विभाग भी मेरे में नहीं हैं, विस्तार और संकोच का विभाग भी मेरे में नहीं है, कोण और गोलाकार का विभाग भी मेरे में नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ॥२१॥

मातापितादि तनयादि न मे कदाचित्
जातं मृतं न च मनो न च मे कदाचित् ।
निर्व्याकुलं स्थिरमिदं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ २२॥

मेरे माता पिता आदि तथा पुत्रादि भी नहीं हैं, न मैं उत्पन्न हुआ हूँ, न मरता ही हूँ। मेरा मन भी नहीं है। मैं व्याकुलता से रहित एवं स्थिर यही परमार्थ तत्व हूँ जो ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश के तुल्य हूँ॥२२॥

शुद्धं विशुद्धमविचारमनन्तरूपं
निर्लेपलेपमविचारमनन्तरूपम् ।
निष्खण्डखण्डमविचारमनन्तरूपं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ २३॥

मैं शुद्ध हूँ, विशुद्ध हूँ, विचार रहित व अनन्त रूप हैं। निर्लेप होकर भी सबमें लिप्त हूँ, सभी पदार्थों में मैं अखण्ड हूँ। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ॥२३॥

ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्र सन्ति
स्वर्गादयो वसतयः कथमत्र सन्ति ।
यद्येकरूपममलं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ २४॥

यदि यह ब्रह्म एक रूप, मल रहित (शुद्ध), एवं परमार्थ तत्व है तो इसमें ब्रह्मा आदि से लेकर देवताओं के समूह किस प्रकार हो सकते हैं। स्वर्ग आदि बस्तियाँ भी इसमें किस प्रकार हो सकती हैं। में एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश को उपमा वाला हूँ॥२४॥

निर्नेति नेति विमलो हि कथं वदामि
निःशेषशेषविमलो हि कथं वदामि ।
निर्लिङ्गलिङ्गविमलो हि कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ २५॥

इस विमल को निर्नेति अथवा ति किस प्रकार मैं कहूँ, इसे निःशेष और शेष भी किस प्रकार कहूं, इसे निर्लिंग तथा लिंग रूप भी किस प्रकार कहूँ। मैं एक ही ज्ञानामृत, तथा आकाश की उपमा वाला हूँ॥२५॥

निष्कर्मकर्मपरमं सततं करोमि
निःसङ्गसङ्गरहितं परमं विनोदम् ।
निर्देहदेहरहितं सततं विनोदं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ २६॥

मैं कर्म से रहित हैं फिर भी परमकर्म को निरन्तर करता हूँ मैं निःसंग और संग दोनों से रहित हैं फिर भी विनोद करता हूँ, मैं निर्देह और

देह दोनों से रहित हैं फिर भी सदा आनन्द में रहता हूँ। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हैं॥२६॥

मायाप्रपञ्चरचना न च मे विकारः ।
कौटिल्यदम्भरचना न च मे विकारः ।
सत्यानृतेति रचना न च मे विकारो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ २७॥

मायारूपी प्रपंच की रचना मेरा विकार नहीं है, कुटिलता और दम्भ की रचना मेरी विकार नहीं है, सत्य और सिध्या की रचना मेरा विकार नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश की उपमा वाला हूँ॥२७॥

सन्ध्यादिकालरहितं न च मे वियोगो-
ह्यन्तः प्रबोधरहितं बधिरो न मूकः ।
एवं विकल्परहितं न च भावशुद्धं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ २८॥

मैं सन्ध्यादि काल से रहित हूँ फिर भी उनसे वियोग नहीं है, आन्तरिक बोध से रहित हूँ फिर भी मूक और बधिर नहीं हूँ, विकल्प से रहित हूँ फिर भी चित्त से शुद्ध नहीं हूँ। में ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश को उपमा वाला हूँ॥२८॥

निर्नाथनाथरहितं हि निराकुलं वै
निश्चित्तचित्तविगतं हि निराकुलं वै ।
संविद्धि सर्वविगतं हि निराकुलं वै
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ २९॥

मेरा कोई स्वामी नहीं है न मैं किसी का स्वामी ही हूँमेरा कोई कुल भी नहीं है। मैं बिना चित्तवाला हूँ, न मेरा कोई चित्त ही हैं, मैं व्याकुलता से रहित हूँ। निश्चय जान कि मैं सर्व से रहित हूँ फिर भी सर्वगत हूँ। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य ॥२९॥

कान्तारमन्दिरमिदं हि कथं वदामि
संसिद्धसंशयमिदं हि कथं वदामि ।
एवं निरन्तरसमं हि निराकुलं वै
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ३०॥

मैं इस जगत को निर्जन वन का मन्दिर किस प्रकार कहूँ, मैं इसे संशय से युक्त भी किस प्रकार कहूँ तथा इसे निरन्तर, सम तथा निराकुल भी किस प्रकार कहूँ। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ॥३०॥

निर्जीवजीवरहितं सततं विभाति
निर्बीजबीजरहितं सततं विभाति ।
निर्वाणबन्धरहितं सततं विभाति
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ३१॥

मुझे बराबर दिखाई देता है कि यह जगत निर्जीव और जीव (जड़ और चेतन) से रहित है, निर्बीज और बीज से रहित है तथा निर्वाण (मोक्ष) एवं बन्धन से रहित है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ॥३१॥

सम्भूतिवर्जितमिदं सततं विभाति
संसारवर्जितमिदं सततं विभाति ।
संहारवर्जितमिदं सततं विभाति
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ३२॥

मुझे निरन्तर भान होता हैं कि यह जगत संभूति रहित हैं, संसार से रहित है, नाश से रहित है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ॥३२॥

उल्लेखमात्रमपि ते न च नामरूपं
निर्भिन्नभिन्नमपि ते न हि वस्तु किञ्चित् ।
निर्लज्जमानस करोषि कथं विषादं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ३३॥

उल्लेख मात्र भी तेरा नाम और रूप नहीं है, तेरे से भिन्न और अभिन्न भी कोई वस्तु नहीं है। फिर हे निर्लज्ज मन! तू क्यों विषाद करता है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हैं॥३३॥

किं नाम रोदिषि सखे न जरा न मृत्युः
किं नाम रोदिषि सखे न च जन्म दुःखम् ।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विकारो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ३४॥

हे सखे ! अपने नाम के लिए (प्रसिद्धि के लिए) तू क्यों रूदन करता है क्योंकि तेरा न बुढ़ापा है, न मृत्यु, न तेरा जन्म है, न दुःख, तेरे कोई विकार भी नहीं हैं। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य इन सबसे परे हूँ॥३४॥

किं नाम रोदिषि सखे न च ते स्वरूपं
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विरूपम् ।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते वयांसि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ३५॥

हे सखे ! तू किस काम के लिए रूदन करता है, न तेरा कोई स्वरूप है, न तेरा रूप ही नष्ट होने वाला है, तेरी आयु भी नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ॥३५॥

किं नाम रोदिषि सखे न च ते वयांसि
किं नाम रोदिषि सखे न च ते मनांसि ।
किं नाम रोदिषि सखे न तवेन्द्रियाणि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ३६॥

हे सखे ! तू किस वास्ते रूदन करता है, न तो तेरी आयु है, न मन है न ये इन्द्रियाँ ही तुम्हारी हैं। मैं ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश तुल्य हूँ॥३६॥

किं नाम रोदिषि सखे न च तेऽस्ति कामः
किं नाम रोदिषि सखे न च ते प्रलोभः ।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विमोहो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ३७॥

हे सखे! तू किसलिए रूदन करता है, तू काम (कामना) भी नहीं है, न तूरा लोभ ही हैं, विमोह भी तेरा नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ ऐसा जान॥३७॥

ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते धनानि
ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते हि पत्नी ।
ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते ममेति
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ३८॥

तू ऐश्वर्य की किस प्रकार इच्छा करता हैं। ये धन तेरा नहीं है, पलि भी तेरी नहीं है, तेरा मेरा ऐसा कहना भी नहीं है। तू ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश को उपमा वाला आत्मा है वही में हूँ ऐसा जान॥३८॥

लिङ्गप्रपञ्चजनुषी न च ते न मे च
निर्लज्जमानसमिदं च विभाति भिन्नम् ।
निर्भेदभेदरहितं न च ते न मे च
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ३९॥

इस चिह्न रूपी जगत प्रपंच को उत्पत्ति न तेरे से हुई है न मेरे से, किन्तु इस लज्जा रहित मन को यह भिन्न प्रतीत होती है। यह निर्भेद और भेद रहित जगत भी न तेरा है, न मेरा। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश को उपमा वाला हूँ॥३९॥

नो वाणुमात्रमपि ते हि विरागरूपं
नो वाणुमात्रमपि ते हि सरागरूपम् ।
नो वाणुमात्रमपि ते हि सकामरूपं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ४०॥

तेरा अणु मात्र भी विराग रूप नहीं है, तुम्हारा अणु मात्र भी राग रूप नहीं है, तेरा अणु मात्र भी सकाम रूप नहीं है। मैं एक ही ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश तुल्य हूँ॥४०॥

ध्याता न ते हि हृदये न च ते समाधि-
र्ध्यानं न ते हि हृदये न बहिः प्रदेशः ।
ध्येयं न चेति हृदये न हि वस्तु कालो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ४१॥

तेरे हृदय में न कोई ध्याता है, न समाधि और ध्यान ही है। तेरे हृदय में बाह्य प्रदेश भी नहीं है, तेरे हृदय में न ध्येय ही है। न काल जैसी कोई वस्तु ही है। मैं ज्ञानामृत, समरस एवं आकाश की उपमा वाला हूँ॥४१॥

यत्सारभूतमखिलं कथितं मया ते
न त्वं न मे न महतो न गुरुर्न न शिष्यः ।
स्वच्छन्दरूपसहजं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ४२॥

मैंने जो सम्पूर्ण सारभूत था वह तुझे कह दिया है। किन्तु यह सब न तेरा है, न मेरा है, महतत्व भी नहीं है न गुरु शिष्य ही है। यह सहज स्वच्छन्द रूप परमार्थ तत्व स्वरूप ज्ञानामृत, समरस तथा आकाश तुल्य है। वह मैं हूँ॥४२॥

कथमिह परमार्थं तत्त्वमानन्दरूपं
कथमिह परमार्थं नैवमानन्दरूपम् ।
कथमिह परमार्थं ज्ञानविज्ञानरूपं

यदि परमहमेकं वर्तते व्योमरूपम् ॥ ४३॥

यदि मैं एक ही परम आकाश रूप हूँ तो उसमें परमार्थ, तत्व एवं आनन्दरूपता कैसे रहती है तथा उसमें परमार्थ एवं आनन्दरूप भी कैसे नहीं रहता है, उसमें ज्ञान-विज्ञान रूप भी कैसे रह सकता है॥४३॥

दहनपवनहीनं विद्धि विज्ञानमेक-
मवनिजलविहीनं विद्धि विज्ञानरूपम् ।
समगमनविहीनं विद्धि विज्ञानमेकं
गगनमिव विशालं विद्धि विज्ञानमेकम् ॥ ४४॥

यह आत्मा एक ही विज्ञान रूप है ऐसा तू जान; जो अग्नि और वायु से रहित, पृथ्वी और जल से रहित, आवागमन से रहित है। यह आकाश के समान विशाल है॥४४॥

न शून्यरूपं न विशून्यरूपं
न शुद्धरूपं न विशुद्धरूपम् ।
रूपं विरूपं न भवामि किञ्चित्
स्वरूपरूपं परमार्थतत्त्वम् ॥ ४५॥

मैं न शून्य रूप हूँ, न शून्य रहित रूप ही हूँ, न शुद्ध रूप हूँ, न विशुद्ध रूप हूँ, मैं किंचित् मात्र भी रूप और विरूप नहीं हूँ। मैं एक ही परमार्थ तत्व अपने ही रूप वाला हूँ॥४५॥

मुञ्च मुञ्च हि संसारं त्यागं मुञ्च हि सर्वथा ।
त्यागात्यागविषं शुद्धममृतं सहजं ध्रुवम् ॥ ४६॥

तू स्वभाव से ही शुद्ध, अमृतरूप एवं नित्य है। इसलिए तू संसार का त्याग कर दे तथा त्याग को भी सर्वदा छोड़ दे तथा त्याग और अत्याग की भावना विष के समान है उसे भी छोड़ दे॥४६॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

॥अवधूत गीता ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः चौथा अध्याय

नावाहनं नैव विसर्जनं वा पुष्पाणि पत्राणि कथं भवन्ति ।
ध्यानानि मन्त्राणि कथं भवन्ति समासमं चैव शिवार्चनं च ॥ १॥

सर्व व्यापक चेतन आत्मा का न आवाहन है, न विसर्जन, इस पर पुष्प एवं पत्र भी कैसे समर्पित हो सकते हैं, इसके लिए ध्यान और मन्त्र भी किस प्रकार हो सकता है। सर्वत्र समान दृष्टि रखना ही इस शिव रूप चेतन आत्मा का पूजन है॥१॥

न केवलं बन्धविबन्धमुक्तो न केवलं शुद्धविशुद्धमुक्तः ।
न केवलं योगवियोगमुक्तः स वै विमुक्तो गगनोपमोऽहम् ॥ २॥

मैं केवल बन्ध और विबन्ध से ही युक्त नहीं हूँ, न शुद्ध विशुद्ध से ही मुक्त हूँ, न योग और वियोग से ही मुक्त हूँ। बल्कि मैं आकाश तुल्य होने से मैं मुक्त ही हूँ॥२॥

सञ्जायते सर्वमिदं हि तथ्यं सञ्जायते सर्वमिदं वितथ्यम् ।
एवं विकल्पो मम नैव जातः स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ३॥

यह सम्पूर्ण जगत सत्य ही उत्पन्न होता है अथवा मिथ्या ही उत्पन्न होता है इस प्रकार का विकल्प मेरे में कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। मैं स्वरूप से ही मुक्त हूँ तथा जन्म मरण के रोग से भी मुक्त हूँ॥३॥

न साङ्गनं चैव निरङ्गनं वा न चान्तरं वापि निरन्तरं वा ।
अन्तर्विभन्नं न हि मे विभाति स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ४॥

मैं न तो दोष युक्त हूँ न दोष रहित हूँ, मैं व्यवधान सहित एवं व्यवधान रहित भी नहीं हूँ। मेरे में व्यवधान और भेद भी ज्ञात नहीं होते। मैं स्वरूप से हो मुक्त एवं रोग रहित आकाश तुल्य॥४॥

अबोधबोधो मम नैव जातो बोधस्वरूपं मम नैव जातम् ।
निर्बोधबोधं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ५॥

अबोध (अज्ञान) का बोध (ज्ञान) भी मेरे में नहीं हुआ है, मैं बोध स्वरूप (ज्ञान स्वरूप) हूँ ऐसा ज्ञान भी मुझे नहीं हुआ है। फिर मैं अपने को निबध (अज्ञानी) अथवा बोध वाला (ज्ञानी) किस प्रकार कहूँ। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित॥५॥

न धर्मयुक्तो न च पापयुक्तो न बन्धयुक्तो न च मोक्षयुक्तः ।
युक्तं त्वयुक्तं न च मे विभाति स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥६॥

मैं न धर्म से युक्त हूँ, न पाप से युक्त हूँ, न बन्ध से युक्त हूँ और न मोक्ष से ही युक्त हूँ, युक्त और अयुक्त का भान भी मेरे में नहीं होता है। मैं स्वरूप से ही मोक्ष युक्त एवं रोग रहित॥६॥

परापरं वा न च मे कदाचित् मध्यस्थभावो हि न चारिमित्रम् ।
हिताहितं चापि कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥७॥

मेरे में पर एवं अपर भाव भी नहीं है, न मध्यस्थ भाव ही है, शत्रु और मित्र भाव भी मेरे में नहीं हैं, फिर मैं हित और अहित किस प्रकार कहूँ। मैं स्वरूप से ही मोक्ष स्वरूप एवं रोग रहित हूँ॥७॥

नोपासको नैवमुपास्यरूपं न चोपदेशो न च मे क्रिया च ।
संवित्स्वरूपं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ८॥

ने तो मैं उपासक हूँ, न ही उपास्य रूप हूँ न मेरा उपदेश है और न मेरे में क्रिया ही है फिर मैं अपने को ज्ञान स्वरूप भी किस प्रकार कहूँ। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ॥८॥

नो व्यापकं व्याप्यमिहास्ति किञ्चित् न चालयं वापि निरालयं वा ।
अशून्यशून्यं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ९॥

इसे आत्मा (ब्रह्म) में व्यापक व्याप्य भाव किंचित भी नहीं हैं, न आश्रय एवं निराश्रय भाव ही है। मैं इसे शून्य तथा अशून्य भी किस प्रकार कहूँ। यह स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित है। वही में हैं॥९॥

न ग्राहको ग्राह्यकमेव किञ्चित् न कारणं वा मम नैव कार्यम् ।
अचिन्त्यचिन्त्यं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥१०॥

आत्मा में ग्राहक (ग्रहण करने वाला) एवं ग्राह्य (जिसे ग्रहण किया जाता है) का थोड़ा सा भी भेद नहीं है, मेरा न तो कोई कारण है और न ही कोई कार्य है। इस अचिन्त्य आत्मा का मन से चिन्तन भी नहीं

किया जा सकता उसका मैं कथन कैसे करूँ। मैं स्वरूप से ही मुक्त और रोग से रहित हूँ॥१०॥

न भेदकं वापि न चैव भेद्यं न वेदकं वा मम नैव वेद्यम् ।
गतागतं तात कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥११॥

न तो कोई भेद करने वाला है और न भेद करने योग्य ही है, न कोई जानने वाला है, न मेरे में कोई जानने योग्य ही है। होने से मेरा कारण एवं कार्य भी नहीं है।हे तात ! न कोई व्यतीत हुआ है, न आने वाला है फिर उसका कथन कैसे करूँ। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ ॥११॥

न चास्ति देहो न च मे विदेहो बुद्धिर्मनो मे न हि चेन्द्रियाणि ।
रागो विरागश्च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १२॥

मेरा शरीर भी नहीं है, न मैं देह रहित ही हूँ, मेरी बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ भी नहीं हैं इसलिए मैं राग और विराग का किस प्रकार कथन करूं। मैं मुक्तरूप रोग रहित हूँ॥१२॥

उल्लेखमात्रं न हि भिन्नमुच्चैरुल्लेखमात्रं न तिरोहितं वै ।
समासमं मित्र कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १३॥

वह (आत्मा) थोड़ा सा भी (ब्रह्म से) भिन्न नहीं है वह उच्च प्रकार के लेखन में भी नहीं है, उससे भी वह छिपा हुआ है। हे मित्र! उसे मैं सम अथवा असम किस प्रकार कहूँ। मैं आत्म रूप युक्त एवं रोग रहित हूँ॥१३॥

जितेन्द्रियोऽहं त्वजितेन्द्रियो वा न संयमो मे नियमो न जातः ।
जयाजयौ मित्र कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १४॥

मैं जितेन्द्रिय भी नहीं हैं, न अजितेन्द्रिय ही हूँ मेरे में संयम नियम भी उत्पन्न नहीं हुए हैं। हे मित्र! मैं जय और अजय का किस प्रकार कथन करूं। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित॥१४॥

अमूर्तमूर्तिर्न च मे कदाचि दाद्यन्तमध्यं न च मे कदाचित् ।
बलाबलं मित्र कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १५॥

मैं न कभी मूर्त हूँ, न अमूर्त ही हूँ, मेरा आदि, मध्य और अन्त भी नहीं है। हे मित्र! मैं बलशाली हूँ अथवा निर्बल हूँ। इसका भी किस प्रकार कथन करूं। मैं तो एक ही स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ॥१५॥

मृतामृतं वापि विषाविषं च सञ्जायते तात न मे कदाचित् ।
अशुद्धशुद्धं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १६॥

मेरा न मरना है, न जीना ही है, मैं विष और अमृत भी नहीं हूँ न मेरे से ये कभी उत्पन्न ही हुए हैं। हे तात! मैं अपने को शुद्ध एवं अशुद्ध भी किस प्रकार कहूँ। मैं मोक्ष स्वरूप एवं रोग रहित हूँ॥१६॥

स्वप्नः प्रबोधो न च योगमुद्रा नक्तं दिवा वापि न मे कदाचित् ।
अतुर्यतुर्यं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १७॥

मेरे में न स्वप्न है न जाग्रत अवस्था हैं, योग मुद्रा भी नहीं है। मेरे में रात्रि और दिन भी नहीं है फिर मैं तुरीयावस्था अथवा अतुरीया

अवस्था का किस प्रकार कथन करूं। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ॥१७॥

संविद्धि मां सर्वविसर्वमुक्तं माया विमाया न च मे कदाचित् ।
सन्ध्यादिकं कर्म कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥१८॥

मैं सर्व एवं सर्वरहित से मुक्त हूँ ऐसा तू जान। मेरे में माया एवं विमाया भी नहीं है। फिर मैं संध्या आदि कर्मों का किस प्रकार कथन करूं। मैं मुक्त स्वरूप एवं रोग रहित हूँ॥१८॥

संविद्धि मां सर्वसमाधियुक्तं संविद्धि मां लक्ष्यविलक्ष्यमुक्तम् ।
योगं वियोगं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १९॥

तू मुझे सर्व समाधि से युक्त जान, मैं लक्ष्य एवं लक्ष्य रहित से मुक्त हूँ ऐसा तू जान । मैं योग और वियोग को किस प्रकार कहूँ मैं स्वरूप से मुक्त एवं रोग रहित हूँ॥१९॥

मूर्खोऽपि नाहं न च पण्डितोऽहंमौनं विमौनं न च मे कदाचित् ।
तर्कं वितर्कं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २०॥

मैं मूर्ख नहीं हैं, न पण्डित ही हूँ, मौन एवं बोलना भी मेरे में नहीं है। मैं तर्क और वितर्क को भी किस प्रकार कथन करूं। मैं मोक्ष स्वरूप रोग रहित हूँ॥२०॥

पिता च माता च कुलं न जाति र्जन्मादि मृत्युर्न च मे कदाचित् ।
स्नेहं विमोहं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २१॥

मेरे पिता, माता, कुल और जाति नहीं है, मेरे जन्म और मृत्यु आदि भी नहीं है। मैं स्नेह और विमोह का किस प्रकार कथन करूं। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ॥२१॥

अस्तं गतो नैव सदोदितोऽहं तेजोवितेजो न च मे कदाचित् ।
सन्ध्यादिकं कर्म कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥२२॥

मैं कभी अस्त नहीं होता (लय को प्राप्त नहीं होता)। मैं सर्वकाल में उदित ही हूँ। मेरे में तेज और वितेज भी नहीं है फिर सन्ध्यादि कर्म का मैं किस प्रकार कथन करूं। मैं स्वरूप से मुक्त एवं रोग रहित हूँ॥२२॥

असंशयं विद्धि निराकुलं मां असंशयं विद्धि निरन्तरं माम् ।
असंशयं विद्धि निरञ्जनं मां स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २३॥

मुझे संशय रहित तथा मूल कारण से रहित तु जान, मुझे संशय से रहित नित्य तु जान, मुझे संशय से रहित निर्दोष तू जान। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ॥२३॥

ध्यानानि सर्वाणि परित्यजन्ति शुभाशुभं कर्म परित्यजन्ति ।
त्यागामृतं तात पिबन्ति धीराः स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥२४॥

धीर पुरुष सम्पूर्ण ध्यानों का परित्याग कर देते हैं, शुभ एवं अशुभ सभी प्रकार के कर्मों का त्याग कर देते हैं। वे केवल त्याग रूपी अमृत का ही पान करते हैं। मैं स्वरूप से ही मुक्त एवं रोग रहित हूँ॥२४॥

विन्दति विन्दति न हि न हि यत्र छन्दोलक्षणं न हि न हि तत्र ।

समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥ २५॥

परम अवधूत (श्रेष्ठ संन्यासी) एकरस आत्मा में ही मग्न रहता है तथा पवित्र हुआ आत्म तत्व का ही कथन करता है। जिस चेतन ब्रह्म में छन्द और लक्षण नहीं है उसमें प्राप्त होता है॥२५॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४॥

॥चतुर्थ अध्याय समाप्त॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

॥अवधूत गीता ॥

अथ पञ्चमोध्यायः पाँचवाँ अध्याय

ॐ इति गदितं गगनसमं तत् न परापरसारविचार इति ।
अविलासविलासनिराकरणं कथमक्षरबिन्दुसमुच्चरणम् ॥ १॥

'ॐ' इस प्रकार जो उच्चारण किया जाता है वह आकाश तुल्य (व्यापक) है। वह पर और अपर (ब्रह्म) के सार का विचार नहीं है। उसमें जगत के विलास एवं अविलास का अभाव है। फिर अक्षर एवं बिन्दु रूप 'ॐ' शब्द का उच्चारण किस प्रकार हो सकता है॥१॥

इति तत्त्वमसिप्रभृतिश्रुतिभिः प्रतिपादितमात्मनि तत्त्वमसि ।
त्वमुपाधिविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ २॥

इस प्रकार श्रुतियों ने जिस आत्मा को 'तत्वमसि' (यह तू ही हैं) कहकर प्रतिपादित किया है वह आत्मा तू ही हैं। इसलिए तू उपाधि से रहित सर्वत्र समरूप है। हे मन! तू सर्व में समान रूप है फिर किस वास्ते रूदन करता है॥२॥

अध ऊर्ध्वविवर्जितसर्वसमं बहिरन्तरवर्जितसर्वसमम् ।
यदि चैकविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ ३॥

हे मन! तू ऊपर और नीचे से रहित सब में सम है, बाहर और भीतर से रहित सबमें सम है और यदि एक से रहित सब में सम है तो तू किस वास्ते रूदन करता है॥३॥

न हि कल्पितकल्पविचार इति न हि कारणकार्यविचार इति ।
पदसन्धिविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ ४॥

हे मन! तू न तो कल्पित है, न कल्प आदि विचार ही है, न तु कारण एवं कार्यरूपी विचार ही है। तेरे में पद एवं सन्धि भी नहीं है बल्कि सबमें सम ही है। फिर किस वास्ते रूदन करता है॥४॥

न हि बोधविबोधसमाधिरिति न हि देशविदेशसमाधिरिति ।
न हि कालविकालसमाधिरिति किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥५॥

हे मन! तू ज्ञान एवं अज्ञान रूपी समाधि नहीं है, न देश, विदेश एवं काल विकाल रूपी समाधि ही है। तू सर्वत्र समरूप है फिर किस वास्ते रूदन करता है॥५॥

न हि कुम्भनभो न हि कुम्भ इति न हि जीववपुर्न हि जीव इति ।
न हि कारणकार्यविभाग इति किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥६॥

हे मन! न तो तू घटाकाश है न घट ही हैं, न तू जीव का शरीर है न जीव ही है, तेरे में कारण एवं कार्य का विभाग भी नहीं है फिर तू किस वास्ते रूदन करता है। तू सर्वत्र सम रूप है॥६॥

इह सर्वनिरन्तरमोक्षपदं लघुदीर्घविचारविहीन इति ।
न हि वर्तुलकोणविभाग इति किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥७॥

यह आत्मा सर्व, एकरस एवं मोक्ष पद वाला है। यह लघु, दीर्घ आदि विचार से रहित है। इसमें गोल एवं कोण का विभाग भी नहीं है। फिर हे मन तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्वत्र समरूप हैं॥७॥

इह शून्यविशून्यविहीन इति इह शुद्धविशुद्धविहीन इति ।
इह सर्वविसर्वविहीन इति किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ ८॥

इस (आत्मा) में शून्य एवं विशून्य विहीन, शुद्ध एवं विशुद्ध विहीन, सर्व एवं विसर्व विहीन आदि का व्यवहार नहीं होता है। हे मन! तू सर्व में सम है फिर किस वास्ते रूदन करता है॥८॥

न हि भिन्नविभिन्नविचार इति बहिरन्तरसन्धिविचार इति ।
अरिमित्रविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ ९॥

इस (आत्मा) में भिन्न एवं विभिन्न का विचार भी नहीं हो सकता, बाहर, भीतर और सन्धि का विचार भी इसमें नहीं हो सकता। शुद्ध एवं मित्र से रहित यह सर्व में सम। फिर हे मन! तू किस वास्ते रूदन करता है। तू सर्व में सम है॥९॥

न हि शिष्यविशिष्यस्वरूप इति न चराचरभेदविचार इति ।
इह सर्वनिरन्तरमोक्षपदं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ १०॥

यह आत्मा शिष्य एवं अशिष्य स्वरूप भी नहीं है, न इसमें चर एवं अचर जगत के भेद का विचार ही है। यह सर्वरूप, निरन्तर एवं मोक्ष

पद वाला है. इसलिए हे मन! तू किस वास्ते रूदन करता है तू सर्व में सम आत्मा है॥१०॥

ननु रूपविरूपविहीन इति ननु भिन्नविभिन्नविहीन इति ।
ननु सर्गविसर्गविहीन इति किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥११॥

निश्चय ही यह (आत्मा) रूप एवं विरूप से विहीन हैं, निश्चय ही यह भिन्न एवं विभिन्न रूपों से विहीन है, निश्चय ही यह उत्पत्ति एवं प्रलय से भी रहित है फिर हे मन! तू किस वास्ते रूदन करता है। तू आत्मरूप होने से सर्व में सम है॥११॥

न गुणागुणपाशनिबन्ध इति मृतजीवनकर्म करोमि कथम् ।
इति शुद्धनिरञ्जनसर्वसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ १२॥

गुण एवं निर्गुण के पाश का बन्धन उसमें (आत्मा से) नहीं है इसलिए वह मृत एवं जीवन के कर्म किस प्रकार करता है। वह शुद्ध, निर्दोष, सर्वरूप एवं सम है फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू वही आत्मा है जो सर्व में सम है॥१२॥

इह भावविभावविहीन इति इह कामविकामविहीन इति ।
इह बोधतमं खलु मोक्षसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥१३॥

यह आत्मा भाव एवं विभाव से रहित हैं, यह काम एवं विकाम से रहित है। यह ज्ञान स्वरूप एवं निश्चय ही मोक्ष स्वरूप हैं इसलिए हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है, तू सर्व में सम है॥१३॥

इह तत्त्वनिरन्तरतत्त्वमिति न हि सन्धिविसन्धिविहीन इति ।
यदि सर्वविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥१४॥

इसमें (आत्मा में) तत्व अथवा नित्य तत्व का व्यवहार नहीं हैं, न ही इसमें सन्धि और विसन्धि विहीन का विचार ही है। यदि यह सर्व से रहित सर्व में सम है तो फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू आत्मा होने से सर्व में सम हैं॥१४॥

अनिकेतकुटी परिवारसमं इहसङ्गविसङ्गविहीनपरम् ।
इह बोधविबोधविहीनपरं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ १५॥

एकान्त कुटी में रहे अथवा परिवार में रहे सब समान है क्योंकि वह (आत्मा) संग एवं विसंग से रहित है। वह ज्ञान एवं अज्ञान से भी रहित है तथा वही श्रेष्ठ है फिर हे मन! तू किस कारण रूदन करता है। तू वही आत्मा है जो सर्व में सम है॥१५॥

अविकारविकारमसत्यमिति अविलक्षविलक्षमसत्यमिति ।
यदि केवलमात्मनि सत्यमिति किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥१६॥

अविकार आत्मा का यह विकार युक्त जगत है यह असत्य है। जो अदृश्य है उसका यह दृश्य जगत असत्य है। जबकि केवल आत्मा ही सत्य रूप है इस लिये हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू आत्मा होने से सर्व में सम है॥१६॥

इह सर्वसमं खलु जीव इति इह सर्वनिरन्तरजीव इति ।
इह केवलनिश्चलजीव इति किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥१७॥

इस संसार में निश्चय करके जीव ही सर्व एवं सम हैं, इस संसार में निश्चल केवल जीव ही है। हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम हैं॥१७॥

अविवेकविवेकमबोध इति अविकल्पविकल्पमबोध इति ।
यदि चैकनिरन्तरबोध इति किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥१८॥

अविवेक और विवेक दोनों अज्ञान है, अविकल्प और विकल्प भी अज्ञान हैं यदि वही एक नित्य बोध है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम है॥१८॥

न हि मोक्षपदं न हि बन्धपदं न हि पुण्यपदं न हि पापपदम् ।
न हि पूर्णपदं न हि रिक्तपदं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥१९॥

न मोक्ष पद, न बन्ध पद है, न पुण्य पद है, न पाप पद है, न पूर्ण पद है, न रिक्त पद है। हे मन! तू सर्व में सम है फिर किस कारण से रूदन करता है॥१९॥

यदि वर्णविवर्णविहीनसमं यदि कारणकार्यविहीनसमम् ।
यदिभेदविभेदविहीनसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ २०॥

यदि यह आत्मा वर्ण एवं विवर्ण से रहित और सम है, यदि यह कारण एवं कार्य से रहित और सम है, यदि यह भेद और विभेद से रहित

और सम है तो हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू आत्मा होने से सर्व में सम है॥२०॥

इह सर्वनिरन्तरसर्वचिते इह केवलनिश्चलसर्वचिते ।
द्विपदादिविवर्जितसर्वचिते किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥२१॥

यह आत्मा सर्वरूप, नित्य एवं सबके चित्तों में रहता है। इस संसार में यही केवल निश्चल भाव से सब चित्तों में रहता है। यह दो पाँव से रहित सबके चित्त में रहता है। हे मन! तू वही आत्मा होने से सर्व में सम है फिर किस कारण से रूदन करता है॥२१॥

अतिसर्वनिरन्तरसर्वगतं अतिनिर्मलनिश्चलसर्वगतम् ।
दिनरात्रिविवर्जितसर्वगतं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ २२॥

यह आत्मा श्रेष्ठ, सर्वरूप, नित्य एवं सभी में व्याप्त है, यह अति निर्मल, निश्चल एवं सबमें व्याप्त है, फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम वही आत्मा है॥२२॥

न हि बन्धविबन्धसमागमनं न हि योगवियोगसमागमनम् ।
न हि तर्कवितर्कसमागमनं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥२३॥

आत्मा में बन्ध और विबन्ध का समागम नहीं है, न योग और वियोग का समागम है, न तर्क और वितर्क का समागम हैं। हे मन! फिर तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम है॥२३॥

इह कालविकालनिराकरणं अणुमात्रकृशानुनिराकरणम् ।
न हि केवलसत्यनिराकरणं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥२४॥

आत्मा में काल एवं विकाल का निराकरण है, इसमें अणु मात्र भी अग्नि का निराकरण है, केवल सत्य का निराकरण इसमें नहीं है। क्योंकि यह स्वयं सत्य है। फिर हे मन! तू किस कारण रूदन करता है। तू सर्व में सम है॥२४॥

इह देहविदेहविहीन इति ननु स्वप्नसुषुप्तिविहीनपरम् ।
अभिधानविधानविहीनपरं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥२५॥

यह आत्मा देह और विदेह से रहित हैं, स्वप्न और सुषुप्ति से भी रहित हैं, विधि एवं निषेध से भी रहित है। फिर हे मन ! तू किस कारण से रूदन करता है। तू वही आत्मा है जो सर्वे में सम है॥२५॥

गगनोपमशुद्धविशालसमं अतिसर्वविवर्जितसर्वसमम् ।
गतसारविसारविकारसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥२६॥

यह आत्मा आकाश के समान व्यापक, शुद्ध, विशाल एवं सम हैं, यह सर्व से रहित नहीं है किन्तु सर्व में सम हैं, यह सार, विसार एवं विकार से रहित है तथा सम है। फिर हे मन! तू किस कारण रूदन करता है। तू सर्व में सम है॥२६॥

इह धर्मविधर्मविरागतरमिह वस्तुविवस्तुविरागतरम् ।
इह कामविकामविरागतरं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥२७॥

इस संसार में धर्म और विधर्म से वैराग्य ही श्रेष्ठ हैं, काम और विकाम से वैराग्य ही श्रेष्ठ है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम है॥२७॥

सुखदुःखविवर्जितसर्वसममिह शोकविशोकविहीनपरम् ।
गुरुशिष्यविवर्जिततत्त्वपरं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥२८॥

यह आत्मा सुख और दुःख से रहित सर्व एवं सम है, यह शोक और विशोक से रहित परम है, यह गुरु एवं शिष्य से रहित परम सत्व है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम है॥२८॥

न किलाङ्कुरसारविसार इति न चलाचलसाम्यविसाम्यमिति ।
अविचारविचारविहीनमिति किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥२९॥

आत्मा में निश्चय ही सार एवं विसार का अंकुर भी नहीं है, चल, अचल, साम्य एवं वैषाम्य भी इसमें नहीं है, यह विचार एवं अविचार से भी रहित है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू सर्व में सम आत्मा है॥२९॥

इह सारसमुच्चयसारमिति कथितं निजभावविभेद इति ।
विषये करणत्वमसत्यमिति किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥३०॥

यह आत्मा सार समुच्चय (सभी प्रकार के सारों का) का भी सार हैं। ऐसा कहा गया है। अपने भाव से भी इसका विभेद है (यह भाव रूप नहीं है), विषयों का करणत्व (कार्य) यही है ऐसा असत्य ही कहा गया

है। फिर हे मन! तू किस कारण रूदन करता है। तू सर्व में सम है॥३०॥

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति यतो वियदादिरिदं मृगतोयसमम् ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ ३१॥

अनेक श्रुतियाँ कथन करती हैं कि जितना भी यह आकाशादि प्रपंच है वह मृगतृष्णा के जल के समान है। और यह एक चेतन ही नित्य एवं सर्व में सम है। फिर हे मन! तू किस कारण से रूदन करता है। तू वही आत्म है जो सभी में समान रूप से है॥३१॥

विन्दति विन्दति न हि न हि यत्र छन्दोलक्षणं न हि न हि तत्र ।
समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥३२॥

परम अवधूत (श्रेष्ठ ज्ञानी) जिसका अन्त:करण पवित्र है उस एकरस आत्मा में ही मग्न रहता है तथा उस आत्मतत्व का ही कथन करता है। जिसमें छन्द और लक्षण नहीं हैं उसी आत्मा को प्राप्त होता है॥३२॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५॥

॥पांचवां अध्याय समाप्त॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

॥अवधूत गीता ॥

अथ षष्ठमोऽध्यायः छठा अध्याय

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति वयं वियदादिरिदं मृगतोयसमम् ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवमुपमेयमथोह्युपमा च कथम् ॥१॥

अनेक श्रुतियाँ हमें कहती हैं कि यह आकाश आदि प्रपंच मृगतृष्णा के जल के समान है। यदि यह एक ही चेतन नित्य, सर्व एवं शिव स्वरूप है तो यह उपमेय और उपमा किस प्रकार हो सकता है॥१॥

अविभक्तिविभक्तिविहीनपरं ननु कार्यविकार्यविहीनपरम् ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं यजनं च कथं तपनं च कथम् ॥२॥

यह चेतन तत्व अविभक्ति एवं विभक्ति से रहित परम तत्व है, निश्चय ही यह कार्य विकार्य से भी रहित है। यदि यह एक ही नित्य, सर्व रूप एवं शिव है तो फिर यजन और तप कैसे हो सकता है॥२॥

मन एव निरन्तरसर्वगतं ह्यविशालविशालविहीनपरम् ।
मन एव निरन्तरसर्वशिवं मनसापि कथं वचसा च कथम् ॥ ३॥

मन ही निरन्तर एवं सर्वगत है, निश्चय ही यह अविशाल और विशाल से रहित है, मन ही नित्य, सर्व एवं शिवरूप, है। इसलिये उस आत्मा को मन और वाणी से कैसे जाना जाये॥३॥

दिनरात्रिविभेदनिराकरणमुदितानुदितस्य निराकरणम् ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं रविचन्द्रमसौ ज्वलनश्च कथम् ॥ ४॥

दिन और रात्रि का भेद भी उसमें नहीं है। उदय और अस्त का भेद भी उसमें नहीं है। यदि वह एक ही नित्य और सर्वरूप शिव है तो फिर सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि उसमें कैसे हो सकती है॥४॥

गतकामविकामविभेद इति गतचेष्टविचेष्टविभेद इति ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं बहिरन्तरभिन्नमतिश्च कथम् ॥ ५॥

काम एवं विकाम का भेद उसमें नहीं है, चेष्टा और विचेष्टा का भेद भी उसमें नहीं है। यदि वह एक ही नित्य, सर्वरूप एवं शिव है तो फिर वह बाहर और भीतर भिन्न है ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है॥५॥

यदि सारविसारविहीन इति यदि शून्यविशून्यविहीन इति ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं प्रथमं च कथं चरमं च कथम् ॥ ६॥

यदि वह ब्रह्म सार एवं असार से रहित है, यदि वह शून्य और अशून्य से भी रहित है ऐसा कहा जाता है। यदि वह नित्य, सर्वरूप एवं शिव है तो फिर उसे आदि व अन्त वाला कैसे कहा जा सकता है॥६॥

यदिभेदविभेदनिराकरणं यदि वेदकवेद्यनिराकरणम् ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं तृतीयं च कथं तुरीयं च कथम् ॥ ७॥

यदि वह ब्रह्म भेद और विभेद से रहित है यदि उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं हैं, यदि वह एक ही नित्य, सर्वरूप एवं शिव है तो फिर उसमें तृतीय अवस्था (सुषुप्ति) एवं तुरीयावस्था का भेद कैसे हो सकता है॥७॥

गदितावितं न हि सत्यमिति विदितावितं नहि सत्यमिति ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं विषयेन्द्रियबुद्धिमनांसि कथम् ॥ ८॥

ब्रह्म के बारे में जो कहा गया है और जो नहीं कहा गया है दोनों सत्य नहीं हैं। जो विदित है और अविदित है दोनों सत्य नहीं है। यदि वह चेतन नित्य, सर्व एवं शिव रूप एक ही है तो ये विषय, इन्द्रियाँ, बुद्धि और मन कैसे हो सकते हैं॥८॥

गगनं पवनो न हि सत्यमिति धरणी दहनो न हि सत्यमिति ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं जलदश्च कथं सलिलं च कथम् ॥ ९॥

आकाश और वायु सत्य नहीं है, पृथ्वी और अग्नि भी सत्य नहीं हैं। यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो यह बादल और जल किस प्रकार सत्य हो सकते हैं॥९॥

यदि कल्पितलोकनिराकरणं यदि कल्पितदेवनिराकरणम् ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं गुणदोषविचारमतिश्च कथम् ॥ १०॥

शास्त्रों में इसका निराकरण किया गया है कि ये सभी लोक कल्पित हैं, ये सभी देवता कल्पित हैं। केवल एक ब्रह्म ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर गुण दोष विचार वाली बुद्धि कैसे सत्य हो सकती है॥१०॥

मरणामरणं हि निराकरणं करणाकरणं हि निराकरणम् ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं गमनागमनं हि कथं वदति ॥११॥

वेद ग्रन्थों में जन्म एवं मृत्यु का निराकरण किया गया है, कर्तव्य एवं अकर्तव्य का भी निराकरण किया गया है। यदि वह ब्रह्म एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर गमनागमन किस प्रकार कहा जा सकता है॥११॥

प्रकृतिः पुरुषो न हि भेद इति न हि कारणकार्यविभेद इति ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं पुरुषापुरुषं च कथं वदति ॥१२॥

इसमें प्रकृति और पुरुष का भेद नहीं हैं, न ही कारण एवं कार्य का विभेद ही है। यदि सर्वत्र एक ही नित्य सर्वरूप एवं शिव आत्मा ही है तो फिर पुरुष और अपुरुष (प्रकृति) किस प्रकार कहा जाता हैं॥१२॥

तृतीयं न हि दुःखसमागमनं न गुणाद्वितीयस्य समागमनम् ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं स्थविरश्च युवा च शिशुश्च कथम् ॥१३॥

ब्रह्म में तीन प्रकार के दु:खों का समागम नहीं है, न ही दोनों गुणों का समागम है। यदि सर्वत्र एक ही नित्य शिव रूप ब्रह्म है तो फिर बुढ़ापा, युवावस्था एवं शिशु अवस्था किस प्रकार कही जा सकती है॥१३॥

ननु आश्रमवर्णविहीनपरं ननु कारणकर्तृविहीनपरम् ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवमविनष्टविनष्टमतिश्च कथम् ॥ १४॥

निश्चय ही आत्मा आश्रम और वर्ण से रहित श्रेष्ठ हैं, निश्चय ही यह कारण एवं कार्य से रहित श्रेष्ठ है। यदि यह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो इसमें नाश होने वाली एवं नाश रहित बुद्धि कैसे हो सकती है॥१४॥

ग्रसिताग्रसितं च वितथ्यमिति जनिताजनितं च वितथ्यमिति ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवमविनाशि विनाशि कथं हि भवेत् ॥१५॥

ग्रसने वाला और ग्रसित दोनों ही मिथ्या हैं। उत्पन्न करने वाला और उत्पन्न हुआ दोनों ही मिथ्या हैं। यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर वह अविनाशी एवं नाश होने वाला कैसे हो सकता है॥१५॥

पुरुषापुरुषस्य विनष्टमिति वनितावनितस्य विनष्टमिति ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवमविनोदविनोदमतिश्च कथम् ॥१६॥

आत्मा में पुरुष एवं अपुरुष का भाव नहीं हैं, उस में स्त्री एवं अस्त्री का भाव भी नहीं हैं। यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर उसमें अविनोद और विनोद की बुद्धि किस प्रकार हो सकती है॥१६॥

यदि मोहविषादविहीनपरो यदि संशयशोकविहीनपरः ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवमहमत्र ममेति कथं च पुनः ॥१७॥

जब वह आत्मा मोह एवं विषाद से रहित इनसे परे है, यदि वह संशय और शोक से रहित और इनसे परे है, यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर 'मैं' और 'मेरा' इस प्रकार का कथन कैसे हो सकता है॥१७॥

महमेति ननु धर्मविधर्मविनाश इति ननु बन्धविबन्धविनाश इति ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवंमिहदुःखविदुःखमतिश्च कथम् ॥ १८॥

निश्चय ही आत्मा धर्म एवं विधर्म से रहित है। निश्चय ही वह बन्ध और मुक्ति से भी रहित है। यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर उसमें सुख एवं दुःख की बुद्धि किस प्रकार हो सकती है॥१८॥

न हि याज्ञिकयज्ञविभाग इति न हुताशनवस्तुविभाग इति ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं वद कर्मफलानि भवन्ति कथम् ॥१९॥

आत्मा में याज्ञिक और यज्ञ का विभाग नहीं है, न हवन सामग्री एवं अग्नि का विभाग ही है। यदि वह एक ही निरन्तर, सर्व एवं शिव है तो फिर कहो उसमें कर्मों का फल किस प्रकार होता है॥१९॥

ननु शोकविशोकविमुक्त इति ननु दर्पविदर्पविमुक्त इति ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ननु रागविरागमतिश्च कथम् ॥ २०॥

निश्चय ही आत्मा शोक-विशोक से मुक्त है, निश्चय ही वह अहंकार एवं निरहंकार से भी मुक्त है। यदि वह एक ही नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर उसमें राग एवं विराग की बुद्धि किस प्रकार हो सकती है॥२०॥

न हि मोहविमोहविकार इति न हि लोभविलोभविकार इति ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ह्यविवेकविवेकमतिश्च कथम् ॥२१॥

आत्मा में मोह विमोह का विकार नहीं हैं, न ही लोभ और अलोभ का विकार ही है। यदि यह आत्मा एक ही, नित्य, सर्व एवं शिव है तो फिर उसमें अविवेक और विवेक बुद्धि किस प्रकार हो सकती है॥२१॥

त्वमहं न हि हन्त कदाचिदपि कुलजातिविचारमसत्यमिति ।
अहमेव शिवः परमार्थ इति अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥२२॥

खेद है कि आत्मा में तू और मैं का भेद कदापि नहीं है तथा उसमें कुल एवं जाति का विचार भी असत्य ही है। परमार्थ रूप में में ही कल्याणकारी आत्मा हूँ फिर में किस प्रकार यहाँ अभिवादन करूँ॥२२॥

गुरुशिष्यविचारविशीर्ण इति उपदेशविचारविशीर्ण इति ।
अहमेव शिवः परमार्थ इति अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥२३॥

आत्मा में गुरु शिष्य का विचार भी नहीं है जिससे उपदेश का विचार भी नहीं हैं। में ही परमार्थ में शिव रूप हूँ। फिर मैं यहाँ किस प्रकार अभिवादन करूँ॥२३॥

न हि कल्पितदेहविभाग इति न हि कल्पितलोकविभाग इति ।
अहमेव शिवः परमार्थ इति अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥२४॥

कल्पित देह से भी आत्मा का भेद सिद्ध नहीं होता, कल्पित लोकों से भी इसका भेद सिद्ध नहीं होता। मैं ही परमार्थ में शिव रूप आत्मा हूँ फिर मैं किस प्रकार अभिवादन करूं॥२४॥

सरजो विरजो न कदाचिदपि ननु निर्मलनिश्चलशुद्ध इति ।
अहमेव शिवः परमार्थ इति अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥२५॥

वह आत्मा कभी भी राग एवं विराग वाली नहीं है, निश्चय ही यह निर्मल, निश्चल एवं शुद्ध है। मैं परमार्थ रूप में वही शिवरूप आत्मा हूँ फिर में किस प्रकार अभिवादन करूँ॥२५॥

न हि देहविदेहविकल्प इति अनृतं चरितं न हि सत्यमिति ।
अहमेव शिवः परमार्थ इति अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥२६॥

उस आत्मा में देह और विदेह का विकल्प भी नहीं है, उसमें मिथ्या चरित्र भी सत्य नहीं हैं। मैं ही परमार्थ रूप में वही शिव रूप आत्मा हूँ। फिर मैं किस प्रकार अभिवादन करूं॥२६॥

विन्दति विन्दति न हि न हि यत्र छन्दोलक्षणं न हि न हि तत्र ।
समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥२७॥

परम अवधूत (श्रेष्ठ ज्ञानी) जिसका अन्त:करण पवित्र है वह उस एकरस आत्मा में ही मग्न रहता है तथा उसी का कथन करता है जिसमें छन्द और लक्षण नहीं है उसी आत्मा को प्राप्त होता है॥२७॥

इति षष्ठमोऽध्यायः ॥ ६॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

॥अवधूत गीता ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः सातवाँ अध्याय

रथ्याकर्पटविरचितकन्थः पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः ।
शून्यागारे तिष्ठति नग्नो शुद्धनिरञ्जनसमरसमग्नः ॥ १॥

जीवन्मुक्त अवधूत गलियों में पड़े चिथड़ों की झोली बनाकर, पाप और पुण्य रहित मार्ग पर चलता हुआ नग्न होकर शून्य मन्दिर में स्थित होकर शुद्ध, निर्दोष एवं समरस आत्मा में ही लीन रहता है॥१॥

लक्ष्यालक्ष्यविवर्जितलक्ष्यो युक्तायुक्तविवर्जितदक्षः ।
केवलतत्त्वनिरञ्जनपूतो वादविवादः कथमवधूतः ॥ २॥

लक्ष्य और अलक्ष्य से रहित ही जिसका लक्ष्य है, युक्त और अयुक्त से रहित जो दक्ष है, केवल उस निरंजन आत्मतत्व में मग्न अवधूत वाद-विवाद कैसे करे॥२॥

आशापाशविबन्धनमुक्ताः शौचाचारविवर्जितयुक्ताः ।
एवं सर्वविवर्जितशान्तास्तत्त्वं शुद्धनिरञ्जनवन्तः ॥ ३॥

आशा रूपी पाश के बन्धन से मुक्त हैं, बाहर के शौच आचार से रहित आत्मा से युक्त सन्त सभी प्रकार के तत्वों से रहित शुद्ध एवं निर्दोष है॥३॥

कथमिह देहविदेहविचारः कथमिह रागविरागविचारः ।
निर्मलनिश्चलगगनाकारं स्वयमिह तत्त्वं सहजाकारम् ॥ ४॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी में देह और विदेह का विचार किस प्रकार हो सकता है, उसमें राग एवं विराग का विचार भी कैसे हो सकता है। वह स्वयं ही स्वभाव से ही आत्म तत्व हैं जो निर्मल, निश्चल एवं आकाश के समान व्यापक है॥४॥

कथमिह तत्त्वं विन्दति यत्र रूपमरूपं कथमिह तत्र ।
गगनाकारः परमो यत्र विषयीकरणं कथमिह तत्र ॥ ५॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी जहाँ इस अवस्था में तत्व को किस प्रकार जान सकता है वहाँ रूप एवं अरूप को भी किस प्रकार जान सकता है क्योंकि वह जहाँ आकाश स्वरूप परमतत्व आत्मा ही है फिर वहाँ विषयों का व्यवहार भी नहीं हो सकता॥५॥

गगनाकारनिरन्तरहंसस्तत्त्वविशुद्धनिरञ्जनहंसः ।
एवं कथमिह भिन्नविभिन्नं बन्धविबन्धविकारविभिन्नम् ॥ ६॥

यह आत्मतत्व आकाश तुल्य व्यापक, नित्य, विशुद्ध, निर्दोष एवं हंस तुल्य है। यह एक ही है इसलिए इसमें भिन्नता एवं समानता का कथन

कैसे हो सकता है। इसमें बन्धन, बन्धन रहित एवं विकार का भेद भी नहीं हो सकता॥६॥

केवलतत्त्वनिरन्तरसर्वंयोगवियोगौ कथमिह गर्वम् ।
एवं परमनिरन्तरसर्व मेवं कथमिह सारविसारम् ॥ ७॥

केवल आत्मतत्व ही नित्य एवं सर्व है, इसमें अहंकारवश योग और वियोग को कथन किस प्रकार हो सकता है। तथा यह आत्मा परम, नित्य एवं सर्व है तो इसमें सार एवं असार भी कैसे हो सकता है॥७॥

केवलतत्त्वनिरञ्जनसर्वं गगनाकारनिरन्तरशुद्धम् ।
एवं कथमिह सङ्गविसङ्गं सत्यं कथमिह रङ्गविरङ्गम् ॥ ८॥

केवल यह आत्मा ही निर्दोष, सवरूप, आकाश, तुल्य व्यापक, नित्य एवं शुद्ध है इसलिए इसमें संग और विसंग कैसे हो सकता है। इसमें सत्य, रंग और विरंग कैसे हो सकता है॥८॥

योगवियोगै रहितो योगी भोगविभोगै रहितो भोगी ।
एवं चरति हि मन्दं मन्दं मनसा कल्पितसहजानन्दम् ॥ ९॥

आत्मज्ञानी योगी योग एवं वैराग्य से रहित हो जाता है, भोगी होकर भी भोग और त्याग से रहित हो जाता है। वह अपने मन द्वारा कल्पित स्वाभाविक आनन्द में मन्द-मन्द गति से (अपनी ही मस्ती में) विचरण करता है॥९॥

बोधविबोधैः सततं युक्तो द्वैताद्वैतैः कथमिह मुक्तः ।
सहजो विरजः कथमिह योगी शुद्धनिरञ्जनसमरसभोगी ॥ १०॥

जो व्यक्ति ज्ञान एवं अज्ञान से निरन्तर युक्त हैं, तथा जो द्वैत और अद्वैत से भी युक्त है वह कैसे मुक्त हो सकता है। इस संसार में योगी सहज ही राग रहित किस प्रकार हो सकता है। आत्मानन्द का भोक्ता ही शुद्ध, निर्दोष एवं समरस होता है॥१०॥

भग्नाभग्नविवर्जितभग्नो लग्नालग्नविवर्जितलग्नः ।
एवं कथमिह सारविसारः समरसतत्त्वं गगनाकारः ॥ ११॥

यह आत्मा समरस तत्व एवं आकाश तुल्य व्यापक हैं जो खण्ड-अखण्ड एवं खण्ड से रहित हैं, यह किसी में लगा हुआ, नहीं लगा हुआ एवं लगे हुए से रहित है। इसे सार एवं असार भी किस प्रकार कहा जा सकता है॥११॥

सततं सर्वविवर्जितयुक्तः सर्वं तत्त्वविवर्जितमुक्तः ।
एवं कथमिह जीवितमरणं ध्यानाध्यानैः कथमिह करणम् ॥ १२॥

योगी निरन्तर उस सर्व रहित आत्मा से मुक्त रहता है तथा सम्पूर्ण तत्वों से रहित होकर मुक्त रहता है। इस प्रकार उसका जीना और मरना किस प्रकार होता है। फिर उसका ध्यान करना और न करना कैसे हो सकता है॥१२॥

इन्द्रजालमिदं सर्वं यथा मरुमरीचिका ।
अखण्डितमनाकारो वर्तते केवलः शिवः ॥ १३॥

यह सम्पूर्ण जगत इन्द्रजाल के समान हैं अथवा मरुस्थल को मरीचिका के समान है। इनमें केवल घनाकार के रूप में अखण्डित कल्याण स्वरूप आत्मा ही वर्तता है॥१३॥

धर्मादौ मोक्षपर्यन्तं निरीहाः सर्वथा वयम् ।
कथं रागविरागैश्च कल्पयन्ति विपश्चितः ॥ १४॥

हम धर्म आदि के लेकर मोक्ष पर्यन्त इच्छा रहित हैं। फिर पण्डित लोग किस प्रकार हमारे में राग और विराग की कल्पना करते हैं॥१४॥

विन्दति विन्दति न हि न हि यत्र छन्दोलक्षणं न हि न हि तत्र ।
समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥ १५॥

परम अवधूत (श्रेष्ठ ज्ञानी) जिसका अन्त:करण पवित्र है उस एकरस आत्मा में ही मग्न रहता है तथा उस आत्मतत्व का ही कथन करता है। जिसमें छन्द और लक्षण नहीं हैं उसी आत्मा को प्राप्त होता है॥१५॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥ ७॥

॥सातवाँ अध्याय समाप्त॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

॥अवधूत गीता ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः आठवाँ अध्याय

त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते ध्यानेन चेतःपरता हता ते ।
स्तुत्या मया वाक्परता हता ते क्षमस्व नित्यं त्रिविधापराधान् ॥ १॥

तुम्हारी यात्रा से व्यापकता नष्ट हुई, तुम्हारे ध्यान से चित्त की विषयपरता नष्ट हुई, तुम्हारी स्तुति से मेरी वाणी की विषयपरता नष्ट हुई अब मैं नित्य तीन प्रकार के अपराधों से क्षमा माँगता हूँ॥१॥

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥ २॥

जिसकी बुद्धि कामना रहित है (निष्काम है), जिसने बाह्य इन्द्रियों को वश में कर लिया है, जो कोमल स्वभाव वाला है, पवित्र रहता हो, थोड़े में गुजारा करता हो, इच्छा रहित हो, थोड़ा भोजन करता हो, शान्त हो, स्थिर बुद्धि वाला हो तथा आत्मा की शरण हो वही मुनि है॥२॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥ ३॥

जो प्रमाद से रहित, गम्भीर स्वभाव वाला, धैर्य युक्त, छः विकारों को जिसने जीत लिया है, अभिमान रहित, दूसरों को मान देने वाला, मित्रतापूर्वक व्यवहार करने वाला, करुणावान, दयाशील है वही आत्मज्ञानी है॥३॥

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥ ४॥

जो सम्पूर्ण देहधारियों के प्रति कृपालु, द्रोह ने करने वाला, सहनशील, सत्य का सार, जन्म-मरण से रहित, सम तथा सबका उपकार करने वाला है वही आत्मज्ञानी है॥४॥

अवधूतलक्षणं वर्णैर्ज्ञातव्यं भगवत्तमैः ।
वेदवर्णार्थतत्त्वज्ञैर्वेदवेदान्तवादिभिः ॥ ५॥

अवधूत (जीवन्मुक्त ज्ञानी) के ये लक्षण सभी वर्ण वालों को, भक्तों को, वेद वर्ण के तत्वज्ञ पण्डितों को, वेद-वेदान्त के ज्ञाता को जानना चाहिए॥५॥

आशापाशविनिर्मुक्त आदिमध्यान्तनिर्मलः ।
आनन्दे वर्तते नित्यमकारं तस्य लक्षणम् ॥ ६॥

अवधूत शब्द चार अक्षरों से मिलकर बना है। अ+व+ धू+त। इसमें दत्तात्रेय जी अकार (अ) का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जो 'आशा' रूपी पाश से मुक्त है, 'आदि' मध्य और अन्त से निर्मल है,

'आनन्द' में ही नित्य मग्न रहता है ये तीनों अकार (अ) की अवधूत के लक्षण हैं॥६॥

वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम् ।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारं तस्य लक्षणम् ॥ ७॥

इसमें अ+व+धू+त शब्द में 'व' अक्षर का लक्षण बताते हुए दत्तात्रेय जी कहते हैं कि 'वासना' का जिसने त्याग कर दिया है और 'वक्तव्य' जिसका राग-रहित है, जो 'वर्तमान' में ही रहता है। 'व' (वकार) ही अवधूत के लक्षण हैं॥७॥

धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तो निरामयः ।
धारणाध्याननिर्मुक्तो धूकारस्तस्य लक्षणम् ॥ ८॥

दत्तात्रेय जी इसमें अ+व+ धू+त शब्द में 'धू' अक्षर का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि 'धूलिधूसर' जिसके अंग हैं, 'धूत चित्त' (पापों से धोया गया चित्त) जिसका है, रोग रहित है, 'धारणा ध्यान' से जो मुक्त हो गया है ये तीन 'धूकार' ही अवधूत के लक्षण हैं॥८॥

तत्त्वचिन्ता धृता येन चिन्ताचेष्टाविवर्जितः ।
तमोऽहंकारनिर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम् ॥ ९॥

इस धातु से बद्ध शरीर के चिन्ताक्रान्त होने से मन भी नष्ट हो जाता है तथा मन के नष्ट होने से धातु भी नष्ट हो जाती है। इसलिए सभी प्रकार से चित्त की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि स्वस्थ चित्त में ही बुद्धि उत्पन्न होती है॥१०॥

दत्तात्रेय जी इसमें अ+व+ धू+त शब्द में तकार (त) का अर्थ बताते हुए कहते हैं कि जिसने 'तत्व चिन्ता' को ही धारण किया है, जो 'चिन्ता और चेष्टा' से रहित है, 'तम रूपी अहंकार' से जो रहित है ये तीनों 'तकार' अवधूत के लक्षण हैं॥९॥

दत्तात्रेयावधूतेन निर्मितानन्दरूपिणा ।
ये पठन्ति च शृण्वन्ति तेषां नैव पुनर्भवः ॥ १०॥

आनन्द मूर्ति दत्तात्रेय जी अवधूत ने इसका निर्माण किया है जो इसको पढ़ते हैं और सुनते हैं उनका पुनर्जन्म कभी नहीं होता॥११॥

इति अष्टमोऽध्यायः ॥ ८॥

॥ आठवां अध्याय समाप्त ॥

॥ इति अवधूतगीता समाप्ता ॥
॥अवधूत गीता समात ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥